CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रेमलता शर्मा

रस-सिद्धान्त

मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रस भारतीय मनीषा की गम्भीरता और व्यापकता का एक अन्यतम प्रतिमान है। आधुनिक काल में रामचन्द्र शुक्ल, कन्हैयालाल पोद्दार, गुलाबराय, कान्तिचन्द्र पाण्डे, हजारी-प्रसाद द्विवेदी आदि विद्वानों ने इस पर विचार किया है और व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। नोली, मेसन (पटवर्धन के सहयोगी के रूप में) जैसे पाश्चात्य विद्वानों का भी इस पर ध्यान गया है। फिर भी प्रस्तुत व्याख्यानमाला में एक ताज़गी है।

उपनिषद् में रस-सिद्धान्त के मूल, साहित्य, चित्र, स्थापत्य, संगीत, नाट्य में 'विनियोग' के रूप में उसके शाखा-विस्तार, ध्वनि-सिद्धान्त के रूप में उसके पल्लव, और अद्यतन काल में उसकी पतझड़ यानी अनास्था के स्वर तथा वसन्त की पदचाप यानी आशा की किरण— इन चारों प्रखण्डों में विचार प्रस्तुत किये गये हैं। अभिव्यक्ति की सहजता इनकी विशेषता है।

प्रत्येक व्याख्यान में उपस्थापित सन्दर्भों को मूल रूप में अनुवाद-सहित अनुबन्ध के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है, जिससे पाठक का मूल ग्रन्थों से सहज परिचय हो सकेगा। पण्डित विद्यानिवास मिश्र की भूमिका ने इस प्रकाशन की उपादेयता में अपूर्व वृद्धि की है।

साहित्य तथा अन्य सभी कलाओं, विशेषतः संगीत के विद्यार्थियों के लिए यह प्रकाशन अपूर्व रूप से रोचक और संग्राह्य होगा। इससे उनकी दीर्घकालीन आवश्यकता निस्सन्देह पूरी हो सकेगी।

ISBN 81-214-0188-7

मूल्य : 45.00

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

u:2

याळय,
रोवी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रस भारतीय मनीषा की गम्भीरता और व्यापकता का एक अन्यतम प्रतिमान है। आधुनिक काल में रामचन्द्र शुक्ल, कन्हैयालाल पोद्दार, गुलाबराय, कान्तिचन्द्र पाण्डे, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि विद्वानों ने इस पर विचार किया है और व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। नोली, मेसन (पटवर्धन के सहयोगी के रूप में) जैसे पाश्चात्य विद्वानों का भी इस पर ध्यान गया है। फिर भी प्रस्तुत व्याख्यानमाला में एक ताजगी है।

उपनिषद् में रस-सिद्धान्त के मूल, साहित्य, चित्र, स्थापत्य, संगीत, नाट्य में 'विनियोग' के रूप में उसके शाखा-विस्तार, ध्वनि-सिद्धान्त के रूप में उसके पल्लव, और अद्यतन काल में उसकी पतझड़ यानी अनास्था के स्वर तथा वसन्त की पदचाप यानी आशा की किरण—इन चारों प्रखण्डों में विचार प्रस्तुत किये गये हैं। अभिव्यक्ति की सहजता इनकी विशेषता है।

प्रत्येक व्याख्यान में उपस्थापित सन्दर्भों को मूल रूप में अनुवाद-सहित अनुबन्ध के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है, जिससे पाठक का मूल ग्रन्थों से सहज परिचय हो सकेगा। पण्डित विद्यानिवास मिश्र की भूमिका ने इस प्रकाशन की उपादेयता में अपूर्व वृद्धि की है।

साहित्य तथा अन्य सभी कलाओं, विशेषतः संगीत के विद्यार्थियों के लिए यह प्रकाशन अपूर्व रूप से रोचक और संग्राह्य होगा। इससे उनकी दीर्घकालीन आवश्यकता निस्सन्देह पूरी हो सकेगी।

ISBN 81-214-0188-7

मूल्य : 45.00

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

u:2

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भारतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रस-सिद्धान्त

मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नेशनल
पब्लिशिंग
हाउस
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

रस-सिद्धान्त

मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़

प्रेमलता शर्मा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

... ...ालय,
भरत... करौंदी
वाराणसी-5

ISBN 81-214-0188-7

No part of this book may by reproduced without the written permission of the holders of the Copyright 'Vatsal Nidhi', New Delhi, or the Author.

मूल्य : ४५.००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित / प्रथम संस्करण : १९८८ / सर्वाधिकार : वत्सल निधि, नयी दिल्ली / कमल प्रिंटर्स, गांधी नगर, दिल्ली में मुद्रित । [115-1-11-1287/N]

RAS-SIDDHANTA : Mool, Shakha, Pallaw aur Patjhar
by Prem Lata Sharma Rs. 45.00

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

सानुताप पुण्य-स्मरणाञ्जलि

हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला की सातवीं लड़ी के रूप में रस पर चार व्याख्यान देना जिनके आग्रह के कारण सम्भव हुआ, जिनकी निरन्तर प्रेरणा से व्याख्यानों का लिखित रूप प्रस्तुत हो सका, 'वत्सल निधि' के स्रष्टा उन परम 'वत्सल' स्मृतिशेष श्री सच्चिदानन्द ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' की पुण्य स्मृति इस अवसर पर चित्त को मथ डाले, यह स्वाभाविक है। व्याख्यानों का लिखित रूप उनके हाथों में अर्पित नहीं किया जा सका, इसका अनुताप असीम है, उससे निष्कृति काम्य भी नहीं हो सकती।

यह ताप 'भाव-पर्जन्य' को आकर्षित करके 'रस-वृष्टि' करा सके और चित्त-रूपी 'अन्न' को नवसर्जन में प्रवृत्त कर सके, तभी ऋषि-ऋण से मुक्ति का कुछ उपाय हो सकता है। सानुताप स्मरणाञ्जलि का यह श्रद्धामय समर्पण इसी कामना से प्रेरित है। कृतज्ञता-ज्ञापन का अवसर जब दुर्दैव के कारण चुक गया हो तब और किया भी क्या जा सकता है? स्वीकृति अथवा ग्रहण के परे जो जा चुके हों, उन्हें स्मरणाञ्जलि ही तो दी जा सकती है!

अनन्त चतुर्दशी
वि० सं० २०४४

—प्रेमलता शर्मा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आभार-निवेदन

पं० विद्यानिवास मिश्र और श्री लक्ष्मीमल सिंघवी वत्सल निधि के न्यासधारी हैं। वे व्याख्यानों में उपस्थित थे, उन्हें हार्दिक कृतज्ञता समर्पित है।

प्रिय इला बहन ने जिस आत्मीयता, सुरुचि और निष्ठा से व्याख्यानों का आयोजन किया, उसके लिए उन्हें प्रेमपूर्वक धन्यवाद देती हूँ।

चार दिन तक दिल्ली के सहृदय श्रोता स्नेहपूर्वक इन व्याख्यानों को सुनते रहे, इसके लिए उनके प्रति आभार प्रकट करना सुखद कर्तव्यपालन है।

मेरे विद्यार्थी और इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय में संगीतशास्त्र के प्रवक्ता डॉ० श्री अनिल बिहारी ब्यौहार ने चारों व्याख्यानों के ध्वन्यंकित रूप को लिपिबद्ध करने का दुष्कर कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न किया है। उन्हें उत्तरोत्तर कल्याण-उत्कर्ष के लिए हार्दिक आशीर्वाद देती हूँ।

सम्माननीय पं० विद्यानिवास मिश्र की सारगर्भित भूमिका से व्याख्यानों के इस संकलन का मूल्य अनन्तगुण बढ़ गया है। उन्हें किन शब्दों में धन्यवाद दूं? उनकी उदारता के लिए प्रणाम भर निवेदित कर सकती हूँ।

—प्रेमलता शर्मा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

भूमिका

रस-सिद्धान्त के बारे में इतना कुछ लिखा जा चुका है कि ऊपर से यही लगता है कि कुछ लिखना शेष नहीं। पर रस अपने आप में कोई सिद्ध वस्तु नहीं, वह एक व्यापार है, ऐसा व्यापार है, जिसमें शुद्ध वास्तविकता की खोज होती रहती है, वह वास्तविकता कभी ही कभी उद्भासित होती है पर वह क्षणिक उद्भास ही खोज को सार्थकता और उकसावा देता है। इस तरह रस के बारे में बहुत कुछ है जो कहा नहीं गया। यह सही है कि इसी से कहे बिना नहीं रहा जाता। बहन प्रेमलता जी ने रस को साहित्य तक न परिसीमित करके, उसके दायरे में संगीत जैसी प्रयोग-धर्मा कला को सन्निविष्ट करते हुए बहुत कुछ नया कहा है, उसके बावजूद भी कहने की इच्छा होती है, जानते हुए भी कि (गोसाईं जी के शब्द उधार लूँ) 'कहे राम रस न रहत'। भाषा कहने के बाद अपर्याप्त हो जाती है, रस उन्मीलित नहीं होता तो भी एक बेचैनी होती है और जैसे-तैसे उन्मीलित हो जाता है तो भी एक बेचैनी होती है। कुछ नया कहने का दम्भ नहीं पालता, केवल अपनी परम्परा को ग्रहण करना चाहता हूँ!

रस की निष्पत्ति कैसे हुई?

किसी ने कहा, रस तो स्वाद की वस्तु है, जीभ के स्वाद की तो है ही, मन के स्वाद की भी है, पर वहाँ तक भी स्वाद पूरा नहीं होता, स्वाद अधूरा तो बना ही रहता है, स्थायी नहीं होता। वह बुद्धि के स्वाद की वस्तु है, शुद्ध ज्ञान की उपलब्धि से उत्पन्न आस्वाद है, पर उस उपलब्धि में स्थायित्व अवश्य है, पर पूर्णता नहीं है, क्योंकि आस्वाद और आस्वादक एक नहीं हो पाते, पूरा तादात्म्य नहीं हो पाता, इसलिए रस आत्मा का स्वाद है, योगी लोग जैसे रसना को उलटकर सहस्रार पद्म का मकरन्द पीते हैं, अमिय रस छकते हैं, शायद वैसा कुछ स्वाद है, नहीं, वैसा भी रस कितना भी दुर्लभ क्यों न हो, तृप्ति नहीं देता। ऐन्द्रिय अनुभूति के संसार, मानस रागद्वेष के संसार, बुद्धि बोध के परिशुद्ध संसार, इनमें से गुज़रते हुए, इनमें रहते हुए इनसे परे का आस्वाद चाहिए, अनहद नाद के आकाश में गये बिना सामान्य भाषा, सामान्य रूप और स्वर में विचरण करते हुए इन्हीं के माध्यम से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन्हीं का एक आस्वादनीय रूपान्तर हम तलाशते रहते हैं। वह तलाश ही हमारी यात्रा की सबसे चरम मूल्यवत्ता है। रस कोई संसार से परे का व्यापार नहीं, यहाँ तक कि भक्ति रस भी नहीं, क्योंकि भक्त हुए विना भी भक्ति रस का आस्वाद मिलता रहता है।

कुछ लोग मानते हैं, रस की वात धातु-रस से उठी। प्रत्येक धातु को गलाकर निर्धूम आँच में और स्थिर सम्पुटित आँच में पकाकर उसका विशुद्ध सारतत्त्व निकलता है, सारी मलिनताएँ नष्ट हो जाती हैं, केवल धातु का रस रह जाता है, उसका निजी स्वभाव रह जाता है, उसके विकारी रूप विनष्ट हो जाते हैं। यह वात भी बहुत दूर तक रस के सम्वन्ध में ठीक जँचती है। साहित्य, संगीत या चाक्षुप प्रत्यक्ष वाली कला का ग्रहण अभ्यास से होता है, जिसको जिन्दगी ने तपाया-गलाया न हो जिसे अपनी भाषा, अपने परिवेश की कलामयी प्रस्तुति के निजी स्वभाव की परख न हो, उसे रस का ग्रहण नहीं होता। न केवल रचनाकार के लिए वल्कि रचना के भावक के लिए भी अग्निपरीक्षा अपरिहार्य है। यह अग्निपरीक्षा दुहरी होती है, रचनाकार या भावक अपने निजी अनुभव को अपने समाज और संस्कृति की घरिया में डालकर देखता है कि इस मेरे अनुभव में कुछ तत्त्व है या नहीं, जितना वच जाता है, उसी को रस मानता है। फिर वह समाज और संस्कृति को अपने भीतर पकाता है और तव उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक समझ और सम्पृक्तता परखी जाती है, इस रूप में नहीं कि कितनी सही है, कितनी गलत, वल्कि इस रूप में कि कितनी आस्वाद्य है और कितनी विरस।

किन्तु रस-व्यापार में जो एक अपूर्वता है, उसकी भी वात सोची जानी चाहिए। अपूर्व शब्द हमारे यहाँ मीमांसा-शास्त्र में आता है, प्रत्येक यज्ञानुष्ठान से कुछ अपूर्व मिलता है, यज्ञ में मन्त्र वही रहते हैं वही होता, अध्वर्यु, उद्गाता रहते हैं, पूर्वविहित वही क्रम रहता है, वही आहवनीय द्रव्य रहता है। वैसी ही वेदी वनायी जाती है जैसे पहले वनती आयी है। सब कुछ पूर्वघटित है, पूर्व-ज्ञात है, तव भी कैसे अपूर्व प्राप्त होता है, यह वात जल्दी समझ में नहीं आती। नाट्य को भी भरतमुनि ने चाक्षुप यज्ञ कहा तो कुछ वैसा ही यहाँ भी होता है, वही वस्तु (कथानक), वे ही अभिनेता (क्योंकि जिसने राम की भूमिका की, वह वरसों तक वही भूमिका करता रहता है, जिसने सीता की की, वह सीता की भूमिका करता रहता है) वे ही नाट्यमुद्राएँ, वे ही आहार्य, वे ही वाद्य-गीत के प्रकार, वे ही प्रेक्षक भी कभी-कभी, तो भी वार-वार नया, वार-वार अपूर्व कुछ क्यों मिलता है? गहराई से इसकी मीमांसा करें तो लगेगा, पूर्वज्ञात से अपूर्व की सिद्धि में ही तो मजा है। मान लीजिए, अभिनेता अपूर्व है तो ध्यान अभिनेता में ही अटक जायेगा, और अभिनेता का सौन्दर्य देखने के लिए यदि नाट्य-प्रयोग देखने जाना है तो सौन्दर्य-दर्शन के हजार अवसर जिन्दगी में मिलते हैं, उससे क्या वैसा कुछ अपूर्व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिलता है जो कि नाट्य-प्रयोग से मिलता है ? यज्ञ का अनुष्ठान सृष्टि की सम्पूर्णता को प्रक्रिया के रूप में समझना है, उसमें कर्म और ज्ञान दोनों का सामरस्य पाना है, अतः उस अनुष्ठान का चौखटा चाहे पूर्व-ज्ञात हो, अपूर्व न हो, पर उसको सम्पन्न करते समय यज्ञ करने-कराने वालों में, यज्ञ के प्रेक्षक में, यज्ञ के सम्भार में, यज्ञ की वेदी में, यज्ञ के आकाश में जो रूपान्तर होता जाता है, वह अपूर्व है। बार-बार वही अनुष्ठान नया-नया अनुभव है। यही बात नाट्य-प्रयोग पर भी घटित होती है। जानी हुई कथा, जाने हुए पात्र, जाने हुए प्रयोग-क्रम से ही जो भाव-प्रस्तुति होती है, उस प्रस्तुति के साथ जो तन्मयीभवन होता है और उस तन्मयी भवन में न कथा रह जाती है, न कथा के पात्र, न उसके अभिनेता, न प्रेक्षक, केवल एक सराबोर करने वाला, भिगोने वाला, भीतर तक धधकाने वाला सत्या-नाशी अनुभव होता है, वह हमेशा नया ही होता है, वह अनुभव कभी नहीं दुह-राय जाता, भले ही अनुभव को लाने वाला सकल संभार ज्यों का त्यों दुहराया जाता रहे। शायद दुहराये जाने पर भी नयेपन की अनुभूति ही रचना की सही कसौटी है। तो यह मानें कि यह याज्ञिक संस्कृति का अपूर्व ही अर्पित रचनाकार की रचना का अपूर्व रस बन गया है।

वस्तुतः रस हमारी संस्कृति का एक बीजाक्षर है। इसका सबसे प्रथप स्मरण हमारे उन वैदिक सूक्तों में मिलता है, जो या तो आपः (जल-देवता) को या वाग्-देवता को (जो स्वयं सरस्वती हैं, जलस्रोत की तरह निरन्तर कुछ व्यक्त और बहुत कुछ अव्यक्त है) सम्बोधित हैं। इन्हीं में से एक सूक्त में है :

आपो हिष्ठा पयोभुवः। ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे।
यो वः शिवतमो रसः। तस्य भाजयते हि नः।
उशतीरिव मातरः। तस्या अरं गमाम वः।
यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः।।

इसका सतही अर्थ है कि "जल की अधिदेवताओ, मेरे लिए कल्याणकर बनी रहो, हमें ऊर्जा दो, जो तुम्हारा सबसे शिवतम रस है, उसका सहभागी बनाओ, जैसे माँ अपने आप निश्शेष रूप से बच्चे को अपना रस देती है वैसे ही तुम हमें रस प्रदान करो, वह रस पाकर हम पर्याप्तता, सफलता, कुछ अतिशय प्राप्त करें। हमें उस रस के मर्म तक पहुँचाओ, जिससे तुम हमें नये रूप में जन सको, हमें नया जन्म दे सको।" यह आकस्मिक नहीं है कि हम इस मन्त्र को बोलकर प्रतिदिन जल से मार्जन करते हैं। वस्तुतः हम अव्यक्त आदि शक्ति का ही आह्वान करते हैं और उसको अपने भीतर प्रवाहित करने का उपक्रम करते हैं। जीवन का प्रत्येक दिन रस का अनुसन्धान है।

एक दूसरा मन्त्र इस प्रकार है। वह भी दैनन्दिन सन्ध्योपासन का मन्त्र है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और जल-देवताओं को ही सम्बोधित है—

> अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः।
> त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योतीरसोमृतम् ।।

"तुम समस्त प्राणियों के अन्तस्तल की गुहा में विचरण करती हो, तुम चारों ओर बहती रहती हो, तुम्हीं यज्ञ हो, आहुति हो, तुम्हीं आहुति के पूर्व का क्षण रूप वषट्कार हो, तुम्हीं ज्योति का अमृत रस हो, दूसरे शब्दों में तुम्हीं द्रवीभूत बाह्य प्रकाश हो।" इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि अव्यक्त और व्यक्त कुछ दो नहीं हैं, व्यक्त का रस ही अव्यक्त है, तप का ही परिणाम रस है, स्वप्रकाश का ही रूपान्तर स्वरस है, रस का अनुसन्धान केवल अपनी रचयित्री शक्ति का ही नहीं, अपनी दृक्शक्ति के सामंजस्य का अनुसन्धान है, संसार में जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, उसी को हम रस-रूप में परिणत करने के लिए अपनी रचना-शक्ति का, अपने भीतर सोयी हुई भावसत्ता का आवाहन करते हैं। रस और कुछ नहीं एक अपूर्व भाव-योग है, जोड़ना और जुड़ना दोनों एक साथ है, जोड़ना बाहर को भीतर से और जुड़ना इस जोड़ने की प्रतिक्रिया से।

जब हम वाक्सूक्त के कुछ मन्त्रों पर भी इसके साथ ध्यान देते हैं तो वृत्त पूरा हो जाता है, ऋग्वेद के प्रसिद्ध वाक्सूक्त में वाक्य आता है—

'मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे'

"समुद्र के भीतर या भीतर के वारापार में मेरा जन्म है," अर्थात् वाग्देवता समुद्र की-सी गहराई के भीतर से उठती हैं, इसी से संगीतकार कहते हैं, नाभि से स्वर को उठाओ। वस्तुतः जल कई प्रकार के भावों का उपलक्षण है, गम्भीरता का, अव्यक्तता का, प्रवाहशीलता और अनवच्छिन्नता का, अमेयता का, आपूर्यमाणता का, उच्छलनशीलता का, आस्वाद्यमानता का, पारदर्शिता और स्वच्छता का, सघन श्यामलता अर्थात् आकर्षक अज्ञेयता का और जाने किन-किन निरुद्वेग तरंगायमानताओं का उपलक्षण है। प्रत्येक सर्जना के मूल में जल जैसी ही स्थितियाँ रहती हैं, इसीलिए वाक् का नाम सरस्वती है।

इन सभी दृष्टियों से समग्र रूप से विचार करने पर रस-अवधारणा के ये उपादान बनते हैं—

(१) विभिन्न प्रकार के आस्वादों के संयोग से एक ऐसा आस्वाद बन जाना, जिसमें सब अलग-अलग भी कुछ-कुछ प्रतीत हों, पर सबसे अलग कुछ प्रतीत हो, और उस आस्वाद के ग्राहक के स्तर का क्रमशः उन्नयन जिससे सतत अभिलषणीय आस्वाद के लिए उत्कंठा बनी रहे;

(२) व्यष्टिचित्त के परिशोधन से उसमें निहित समष्टि-चित्त का तत्त्व पाने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के लिए विचित्र प्रकार की आग में झोंकने की तैयारी और स्वभाव की पहचान पाने का सुख;

(३) दिये हुए घटकों से अनदिया कुछ पाना, पूर्वज्ञात और पूर्व-अनुभूत से अपूर्व कुछ पाना, पाना नहीं बल्कि पाने के लिए अपने को रिक्त कर देना और फिर अपूर्वमय बन जाना ; और

(४) समष्टिचित्त और व्यष्टिचित्त के प्रसुप्त अन्तर्निहित परस्पर पर्युत्सुक भाव को जगाना और उस भाव से जुड़कर ज्योति का रस बन जाना।

भरत ने नाट्यशास्त्र में प्रयोगधर्मा कला का मर्म समझाने के लिए रस की अवधारणा जब की होगी, तब उनके मन में पूर्ववर्त्ती रस-प्रतीतियाँ अवश्य रही होंगी। कुछ संकेत भी उन्होंने दिये हैं जिन्हें उनके व्याख्याकार अभिनवगुप्त-पादाचार्य ने विशद रूप से समझाया है। नाट्य-प्रयोग कैसा होता है, उसमें किस पर विशेष बल होता है, उसका प्रेक्षक किसके लिए उक्त नाट्यशाला में आता है, वह कितना कुछ जानता-समझता होता है, नाट्य प्रस्तुत करने वाले किस मनोदशा में रहते हैं, इन सबके विषय में विस्तार में विचार हुआ है, उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। कुछ बातों की ओर ध्यान जरूर दिलाना है।

अभिनेता अभिनीयमान पात्र से तादात्म्य नहीं स्थापित करता, न प्रेक्षक अभिनीयमान पात्र से तादात्म्य स्थापित करते हैं, यदि करें तो वह भयंकर त्रुटि मानी जाती है। वे नाट्य के देश-काल में भी अपने को स्थापित नहीं करते, परन्तु अपने निजी देशकाल से विस्थापित हो जाते हैं। यह विस्थापन ही अभिनव गुप्तपादाचार्य की भाषा में काल-त्याग है। यज्ञ की भाषा में आनुष्ठानिक मृत्यु है। क्या यह सम्भव होता है, आज लोग यही प्रश्न बार-बार पूछते हैं। यह अतिक्रमणवादी विचारधारा बड़ी बेगानी लगती है तथाकथित आधुनिक समीक्षकों को। परन्तु, सभी अनुभव करते हैं कभी न कभी, कि संसार में ऐसे क्षण आते हैं, जब मनुष्य जहाँ रहता है, वहाँ रह नहीं पाता, जैसे तेज धार में खिसकती हुई बालू में पैर उठ जाते हैं, मनुष्य प्रवाह में वह चलता है, वैसे ही मालूम होता है, कोई एक विवश करने वाला उमड़ाव आता है। तब जो होता है, वही अधिक व्यवस्थित रूप में नाट्य-प्रयोग में या संगीत-प्रयोग में (वस्तुतः संगीत और नाट्य में कोई अन्तर नहीं है) घटित होता है, अन्तर केवल इतना है कि रमणीय वस्तु के देखने पर या मधुर शब्द के सुनने पर जो घटित होता है, उसके लिए पहले से तैयारी नहीं रहती है, पर नाट्य-प्रयोग या संगीत के लिए एक भीतर से तैयारी रहती है, इसी से सामान्य सौन्दर्यानुभूति से यह सौन्दर्यानुभूति कुछ विशिष्ट होती है।

दूसरी बात यह है कि अभिनेता अभिनीयमान पात्र की मनोदशा को अपनी मनोदशा न मानते हुए समष्टि चित्त की मनोदशा मानते हुए पूरे मनोयोग से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाचिक, आहार्य, आंगिक और सात्त्विक अभिनयों द्वारा प्रस्तुत करता है, वह पात्र से पृथक्ता के प्रति सचेत रहते हुए भी जो उसकी मनोदशा का अवगाहन कर सकता है तो इसलिए कि वह मनोदशा की प्रस्तुति करते समय अपने भीतर समष्टि चित्त का ध्यान करता है, बिना इस ध्यान के प्रस्तुति पूर्ण नहीं होती। यही बात उक्त मनोदशा के ग्राहक प्रेक्षक पर भी घटती है, वह भी न अपने को पात्र की भूमिका में डालता है, न अभिनेता से अपना तादात्म्य स्थापित करता है, न यह मानता है कि यह मनोदशा किसी परिचित मित्र की है, या किसी शत्रु की है या किसी अजनबी की है, जिससे हमारा कोई भी खास सरोकार नहीं है, वह मनोदशा से सरोकार रखता है, क्योंकि वह सबकी है, सबकी होकर अपनी है। बिना इस प्रकार के साधारणीकरण के शुद्ध रस का ग्रहण नहीं होता है, शुद्ध रस और कुछ नहीं विशेषीकृत राग-द्वेषादि विकारों का एक ऐसा संस्कार है, जो दुःखप्रद या सुखप्रद नहीं होता, वह दुःख-सुख को सर्वमय बनाकर एक ऐसे संवेदन में रूपान्तरित कर देता है, जिसमें अपनी अस्मिता खो नहीं जाती, विस्तृत हो जाती है, जातीय अस्मिता बन जाती है और उससे भी और विस्तृत होकर जीवमात्र की अस्मिता बन जाती है। यह बनना ही रस है। यह बनकर अकेला पड़ जाना, समूह में रहते हुए समूह को अपने में पाते हुए भी अकेला पड़ जाना, एक अपूर्व तादात्म्य के अनुभविता के रूप में अपने आसपास के संसार से क्षणमात्र के लिए ही सही बिछुड़ जाना और खो जाने में नयी पहचान पाना, यही रस है।

तीसरी बात यह है कि बार-बार वही कहानी नाट्य-प्रयोग का आधार बनती है, वही प्रयोग हम कभी-कभी कई बार देखते हैं, उन्हीं अभिनेताओं के द्वारा किया गया प्रयोग देखते हैं, तो भी हमें कुछ नया हर बार मिलता है। यह पुनरावर्त्यमानता और नवायमानता का संयोजन कैसे सम्भव होता है, इसी का उत्तर है रस। हम नाट्य देखते हैं, इस भाव से नहीं कि कोई अजूबा चीज़ देख रहे हैं, हम देखते हैं कि हम कोई नया देखना देख रहे हैं। सदियों पूर्व घटी घटना हम नहीं देखने जाते या अपने ही समय में कहीं अलग घट रहीं हज़ारों घटनाओं की अनुकृति नहीं देखते, हम घटना को दूसरे रूप में घटित होने या और सही कहें, गृहीत होते देखना चाहते हैं। यह नाट्य में आँखों के सामने होता है, इससे सबसे अधिक इसमें चित्त रमता है, पर सुनना भी प्रत्यक्ष है, शब्दार्थ का बोध भी प्रत्यक्ष अनुभव है, रंगों का, रेखाओं का चढ़ाव-उतार दृष्टि और चित्र में उतारना भी प्रत्यक्ष अनुभव है, सबमें मन जो रमता है, वह रस है। चित्त एक बार जिस प्रकार रमता है, उस प्रकार दूसरी बार नहीं, क्योंकि देखी-सुनी जा रही वस्तु में परिवर्तन न भी हो, देखने वाले में और उसके देखने के व्यापार में परिवर्तन हो जाता है, वह एक बार देखकर कुछ संस्कृत हुआ रहता है और अनेक बार देखकर और अधिक संस्कृत हुआ रहता है, इसीलिए भारतीय चिन्तन में सहृदय के बनने में सतत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभ्यास आवश्यक माना गया है।

इस पूरे चौखटे में रस को रखें, हालाँकि यह चौखटा कामचलाऊ ही है, तो यह साफ़ झलकने लगेगा कि रस को नाट्य-प्रयोग तक सीमित नहीं रखा जा सकता। यह अवश्य है कि विभाव-अनुभाव और संचारी के साथ स्थायी भाव के संयोग को जो रसनिष्पत्ति के प्रति कारण माना गया है, उसे एक निदर्शन मात्र मानना होगा और रति, हासादि स्थायी भावों की सूची को अनन्तिम मानना होगा। कभी कोई भी आलम्बन न हो, उद्दीपन न हो, चित्त एकदम शून्य हो, कोई कोटी-कृत स्थायी-संचारी तक न हो तो भी रस-निष्पत्ति हो सकती है, क्योंकि चित्त की रिक्तता या चित्त की तनावपूर्ण संकुलता का ही रस-रूप में निष्पादन हो सकता है, बशर्ते कि प्रस्तुति चाहे अभिनयात्मक हो, शब्दार्थात्मक हो, रेखात्मक हो, सर-गमात्मक हो, जैसी भी हो, समर्थ हो उस चित्तदशा को ग्रहण करने और कराने में। ग्रहण कराने का दबाव होने पर ही सामर्थ्य आता है, सामर्थ्य का अर्थ व्याकरण-शास्त्र में ही नहीं, सकल शास्त्रों में जुड़कर-मिलकर अर्थ देना है। रस और कुछ नहीं, सकल होने की, अखण्ड होने की प्रवणता है।

प्रेमलता बहन ने वत्सल निधि द्वारा पारसाल आयोजित हीरानन्द शास्त्री व्याख्यानमाला के लिए रस को विषय चुना, इसके लिए हम उनके बहुत अनुगृहीत हैं, उनके व्याख्यानों में रस को व्यापक आयाम में देखने का अवसर मिला और उन्होंने जो संगीतशास्त्र के चिन्तन और नाट्यशास्त्र के चिन्तन को एकसाथ जोड़कर देखा और हमें जोड़कर देखने की दृष्टि दी, उससे रस-सिद्धान्त के पर्यालोचन को नया मोड़ मिला। उनका बहुत आग्रह था कि भाई, आप इस पर भूमिका लिखें, इसलिए मुझे यह जानते हुए कि मेरी भूमिका इन गम्भीर व्याख्यानों के अनुकूल नहीं होगी, 'सियनि सुहाइ कि टाट पटोरे' क्या रेशम के साथ टाट को सीना सुहायेगा, मैंने भूमिका तो नहीं एक शास्त्र-गल्प लिख दिया। उस व्याख्यान में स्व० भाई (वात्स्यायन जी) उपस्थित थे, उनका भी आदेश था कि आपको मेरी ओर से इन व्याख्यानों पर भूमिका लिखनी है, आज वे यशःकाय होकर हमारे भीतर तो हैं, हमारे सामने नहीं हैं, वे इसे पढ़ते और इसे सुधारते तो मुझे कितना सुख मिलता! उनका स्मरण करता हूँ और मन भीग जाता है, आँखें सजल हो जाती हैं। उनकी ओर से उनके रहते हुए कुछ करना, और उनकी अनुपस्थिति में कुछ करना, दोनों में बड़ा अन्तर है। इस अन्तर के कारण ही यह भूमिका वैसे ही खास कुछ नहीं है, अब और रसहीन होगी। इस भूमिका को दायित्वपूर्ति मानकर आप व्याख्यान पढ़ें, आपको निश्चय ही अपूर्व कुछ मिलेगा, भूमिका के सतहीपन को अनदेखा कर दें, आपसे यही विनती है।

—विद्यानिवास मिश्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दो शब्द

वैदिक धारा के शीर्षस्थानीय उपनिषद् में 'आनन्द' के मूर्त रूप का 'रस' के रूप जो प्रतिपादन है, उसे नाट्य के अंगी, नियन्ता और प्राणवद् व्यापक तत्त्व के रूप में, किस प्रकार नाट्यशास्त्र में प्रतिष्ठा मिली है और नाट्य के अतिरिक्त श्रव्य काव्य, चित्र, स्थापत्य, संगीत में किस प्रकार विनियोग का प्रमुख ही नहीं, प्रायः एकमात्र आधार वही (रस ही) रहा है, इसके आकलन का यत्न भारतीय मनीषा के तलस्पर्शी गाम्भीर्य और दिग्दिगन्तव्यापी विस्तार का दर्शन कराता है।

सामान्य रूप से रस-सिद्धान्त से हमारा परिचय साहित्य (श्रव्य काव्य अथवा दृश्य काव्य के पाठ्य अंश-मात्र) के सन्दर्भ में ही होता रहा है। किन्तु 'नाट्य' (दृश्य काव्य का 'प्रयोग'), चित्र, स्थापत्य, संगीत में यह सिद्धान्त किस प्रकार व्यापक भूमिका को प्राप्त हुआ है, इसका एकत्र दर्शन इसकी समग्रता के बोध का साधक है।

प्रस्तुत व्याख्यानों में रस-सम्बन्धी चिन्तन के उत्स उपनिषद् में प्रतिपादित 'आनन्द' और 'रस' के प्रसंग को उठाकर इन दोनों का, पंचमहाभूतों में से क्रमशः आकाश और जल के साथ सूक्ष्म सादृश्य-सम्बन्ध दिखाया गया है और उसी प्रसंग में ऐन्द्रिय स्तर पर 'रसना-व्यापार' की विलक्षणता की चर्चा की गयी है।

व्याख्यानों का लिखित रूप देखकर मेरे परम आत्मीय, अनुजवत् डॉ० कमलेश दत्त त्रिपाठी ने एक प्रश्न उठाया था। उन्होंने कहा कि आगम-धारा में स्पर्श को ऐन्द्रिय स्तर की चरम अनुभूति माना गया है और उसी चरमता को आधार बनाकर स्त्री-पुरुष संभोग के चरम क्षण को 'आनन्द' की परमावस्था का उपमान कहा गया है। रस को जल और रसना-व्यापार के साथ जोड़ते समय इस बात पर भी विचार होना चाहिए, ऐसा उनका आग्रह था। तदनुसार इस बिन्दु पर विचार प्रस्तुत है।

कलागत आस्वादन 'समाज' में होता है, एकान्त में नहीं। वहाँ आस्वादक या सहृदय 'सामाजिक' है, 'एकाकी' या 'युगल' नहीं। ऐन्द्रिय स्तर पर भी भोजन-गत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आस्वादन 'पंक्ति' में ही होता है। 'एकः स्वादु न भुञ्जीत' जैसे सूत्र द्वारा एकाकी होकर आस्वादन को निषिद्ध माना गया है। 'आस्वादन', चाहे वह भोजनगत ऐन्द्रिय स्तर पर हो, या कलागत भावनात्मक स्तर पर, दोनों में समाजगत 'लोकान्त' और व्यक्तिगत 'एकान्त' एक साथ, एकाधार में उपस्थित रहते हैं। 'स्पर्श' के जिस चरम विन्दु की वात अभी ऊपर उठाई गयी, उसमें 'एकान्त' ही इष्ट है, और 'लोकान्त' अनिष्ट है। शायद इसीलिए कलागत आनन्दानुभव का उपमान भोजन-गत आस्वादन-व्यापार को ही वनाया गया होगा; शब्द, रूप, गन्ध को तो नहीं ही, स्पर्श को भी नहीं। रसना-व्यापार की अन्य विशिष्टताओं पर प्रथम व्याख्यान में विस्तार से विचार हुआ ही है। उसकी पुनरावृत्ति यहाँ अनावश्यक है जिस विन्दु पर वहाँ विशेष विचार नहीं हो पाया है, उसी पर यहाँ कुछ विचार प्रस्तुत करना उचित लगता है।

सर्वथा शब्दहीन अभिव्यक्ति का क्षेत्र चित्र, शिल्प या स्थापत्य में उपलब्ध होता है। काव्य और नाट्य में तो वाक्, प्राण, मन की त्रयी का या तो शब्द के माध्यम से निरूपण होता है और या शब्दाधारित अंग-संचालन, आहार्य आदि के द्वारा संप्रेषण होता है। इसलिए उनके प्रसंग में रस के सभी उपकरणों—विभाव, अनु-भाव, संचारी आदि का निरूपण संभव होता है। संगीत में 'शब्द' के 'वाचक' अंश का सर्वथा अभाव अथवा केवल आंशिक उपस्थिति ही होती है, उस का 'रंजक' और 'व्यंजक' अंश ही सर्वथा प्रधान रहता है। इसलिए संगीत की स्थिति सशब्द और शब्दहीन अभिव्यक्ति के मध्य में है और यह 'मध्य' कभी सशब्दता और कभी शब्दहीनता की ओर अधिक झुका रहता है। उसी झुकाव की दिशा और मात्रा के अनुसार संगीत में अनन्त स्तरभेदों की संभावना रहती है। काव्य, नाट्य की अपेक्षा संगीत की इस विशिष्टता पर भी व्याख्यानों में विचार किया गया है। किन्तु, जहाँ (चित्र में) शब्द का सर्वथा अभाव है और केवल वर्ण (रंग) और रेखा द्वारा लम्बाई-चौड़ाई, इन दो आयामों में अथवा (मूर्ति में) रेखा (लम्बाई-चौड़ाई) तथा मोटाई, इन तीन आयामों में और वहुत गौण रूप से वर्ण (रंग) द्वारा अभिव्यक्ति होती है, वहाँ वात कुछ वदल जाती है। इनके प्रसंग में विभाव अनुभावादि का निरूपण काव्य या नाट्य से भिन्न हो जाता है, क्योंकि वे दोनों गतिशील हैं और यहाँ स्थिरता है। गति के किसी एक क्षण में चित्र या मूर्ति आवद्ध रहते हैं। अतः उनके प्रसंग में रस-भाव-निरूपण की प्रक्रिया का भिन्न होना स्वाभाविक है।

यहाँ 'शब्द के अभाव' का तात्पर्य श्रवण-गोचर शब्द से ही है। जिस अर्थ में भारतीय चिन्तन ने यहाँ तक कहा है कि ऐसा कोई भी अनुभव-गोचर ज्ञान नहीं है जो 'शब्द से विधा न हो', उसका यहाँ अस्वीकार नहीं है। चित्र या शिल्प की पृष्ठभूमि में (सर्जन और अनुभव, दोनों के प्रसंग में) स्फोटात्मक यानी बुद्धि में स्थित संस्कार के रूप में वर्तमान शब्द का अमूर्त आकार न रहता हो, ऐसी वात

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं है। वह तो रहता ही है। किन्तु प्रत्यक्ष श्रवणगोचर शब्द के रहने या न रहने से अभिव्यक्ति के स्वरूप में जो अन्तर आता है, उसी की ओर इंगित करना यहाँ अभीष्ट है।

अभिनय की भाषा में कहें तो चित्र और शिल्प में वाचिक का सर्वथा अभाव, आंगिक और आहार्य का एकाधिपत्य और सात्त्विक का आंशिक ग्रहण ही संभव है। आंगिक में से प्रमुख स्थान नेत्र को दिया गया है। समरांगण-सूत्रधार में रस की बात उठाते ही कहा है—

रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनाञ्चेह लक्षणम्।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते॥

(प्र० श्लो०)

अर्थात्—रसों के साथ ही दृष्टियों की बात उठा दी गयी है और यह कहा गया है कि चित्र में भाव की अभिव्यक्ति दृष्टि के अधीन होती है।

आंगिक अभिनय का निरूपण नाट्य या नृत्य में जिस प्रकार हुआ है, उससे एक बात ध्यान में आती है और वह यह कि अन्य अंगों-उपांगों या प्रत्यंगों के विनियोग तो दो प्रकार के मिलते हैं—एक अर्थाधारित और दूसरे रसाधारित। (अर्थ का तात्पर्य है कोई क्रिया या पदार्थ। जैसे फूल बीनना एक क्रिया है। इसके लिए जब किसी 'हस्त' का विनियोग होगा तो वह अर्थाधारित कहलाएगा।) किन्तु दृष्टियों के नाम ही रसों, स्थायी भावों अथवा संचारी भावों के अनुसार रखे गए हैं और वैसा ही उनका विनियोग कहा गया है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि आंगिक अभिनय में दृष्टि का रस या भाव के साथ विशेष सम्बन्ध 'शास्त्र' में स्थापित है और वह 'लोक' (जीवन) से भी सिद्ध है। दृष्टि के साथ-साथ अन्य अंगों का भावानुकूल वलन अथवा चलन होता ही है। किन्तु दृष्टि सबका केन्द्र-बिन्दु अथवा दर्पण होती है। जहाँ दृश्य का ही एकाधिपत्य हो, वहाँ दृष्टि को रस, भाव का आधार मानना उचित ही है। मनुष्य-शरीर के अनुरूप ही अन्य प्राणियों में भी दृष्टि के आधार पर भाव-निरूपण हो सकता है।

इत्येते चित्रसंयोगे रसाः प्रोक्ताः सलक्षणाः।
मानुषाणि पुरस्कृत्य सर्वसत्त्वेषु योजयेत्॥

(समरांगण-सूत्रधार प्र० श्लो०)

नाट्यशास्त्र, संगीत रत्नाकर और समरांगण-सूत्रधार में दृष्टि-भेदों के जो नाम मिलते हैं, उनकी संलग्न तालिका से यह स्पष्ट होगा कि शिल्प के प्रसंग में भेदों की संख्या कम है और उनमें रस, स्थायि-भाव, संचारि-भाव, इस प्रकार का विभाजन भी नहीं है। (द्रष्टव्य, पृष्ठ xxi पर दृष्टि-भेदों की तालिका)।

चित्र और शिल्प में दृष्टि-भेद अथवा अन्य अंगों का विन्यास-भेद क्या किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भावावस्था के विभाव-पक्ष अर्थात् कारण-पक्ष का निरूपण करता है, अथवा अनुभाव-पक्ष या कार्य-पक्ष का ? उदाहरण के लिए भयानक रस के प्रसंग में भीत (डरा हुआ) पात्र रहेगा या डरावना यानी डराने वाला ? समरांगण-सूत्रधार में दृष्टि-भेदों का जो निरूपण है, उसमें अनुभाव-पक्ष ही स्फुट है और उसी को 'रस' कहा गया है। फ्रांस में भारत महोत्सव के अन्तर्गत 'रस' शीर्षक से चित्र और मूर्ति की जो कला-प्रदर्शनी हुई थी, उसका सूची-पत्र १९८६ में फ्रांस से ही प्रकाशित हुआ है। उसमें दिये हुए उदाहरणों के अध्ययन से निम्नलिखित सामान्य निष्कर्ष सामने आए।

१. शृंगार

शृंगार में तो विभाव और अनुभाव का भेद अप्रासंगिक है। यदि स्त्री-पुरुष दोनों उपस्थित हों तो दोनों परस्पर विभाव भी हैं और अपने-आप में अनुभाव भी। यदि केवल एक उपस्थित हो तो वह अनुभाव ही होगा। जिसे हम यहाँ अनुभाव कह रहे हैं, उसे भाव या रस भी कहा कहा जा सकता है और कहा गया है।

२. हास्य

इसमें 'रस' (अनुभाव) का निरूपण भी (पृ० ९९, यक्ष, हँसी की मुद्रा में) है और 'विभाव' का भी (पृ० १०३, नंगे-मोटे, नाटे, नृत्यरत गणेश, पृ० १०५ कृष्ण वेश में राधा) तथा पृ० १०८ पर 'रस' और विभाव दोनों एक साथ हैं; गौरी और शिव दोनों हँस रहे हैं; ब्रह्मा, विष्णु दर्शन के लिए आए हैं, गरुड़ को देखकर सर्प बिलों में घुस रहे हैं, गौरी शिव की लँगोटी खींच रही हैं और इस प्रकार हास्य का 'विभाव' भी इस चित्र में प्रस्तुत है।

३. करुण

बुद्ध का दुःखी चेहरा (पृ० १३१) 'रस' का व्यंजक है, (पृ० १३५ पर) शिव का ताण्डव (सती-दाह के बाद) भी 'रस'-वाहक है। किन्तु, पृ० १४२ पर कंकाल रूप में मनुष्य, घोड़ा और कुत्ता 'विभाव'-स्थानीय हैं।

४-५ रौद्र-वीर

इन दोनों में सभी उदाहरण 'रस' के व्यंजक हैं, 'विभाव' का उदाहरण एक भी नहीं है। महिषासुरमर्दनी (पृ० १५३), नृसिंह (पृ० १५४), खर-दूषण-संहार में रत राम (पृ० १५९), वराहावतार द्वारा हिरण्याक्ष-वध (पृ० १६०) इत्यादि जितने भी उदाहरण हैं, सभी 'रस' के वाहक हैं, विभाव के नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

६-७. भयानक-वीभत्स

इन दोनों रसों के प्रायः सभी उदाहरण 'विभाव'-स्थानीय हैं। केवल एक चित्र में (पृ० २०६) असुरों का समूह है जिसमे असुर डरे हुए हैं और डरावने भी हैं और वीभत्स भी। अन्य सभी उदाहरण 'विभाव' को प्रस्तुत करते हैं। यथा—भैरव (पृ० २०२), योगिनी (पृ० २०३), द्वारपाल (पृ० २०४), वादलों में से राक्षस-मुख (पृ० २०५), ताड़का-वध (पृ० २११), विषपानरत विकराल भैरव (पृ० २१२), काली-चामुण्डा द्वारा रक्तवीज का पान (पृ० २१५) इत्यादि।

८. अद्भुत

अधिकांश उदाहरण 'विभाव'-स्थानीय हैं। यथा—अर्धनारीश्वर (पृ० २३३), नटराज (पृ० २३६), गोवर्धनधारी कृष्ण (पृ० २३७), तृणावर्त (पृ० २४०), यमलार्जुन (पृ० २४१), कृष्ण द्वारा दावानल-पान (पृ० २६०), रासमण्डल (पृ० २६४), इत्यादि। कुछ चित्रों में 'रस' और विभाव दोनों पक्ष प्रस्तुत हैं। यथा—अक्रूर द्वारा यमुना के भीतर और वाहर एक-साथ कृष्ण-वलराम का दर्शन (पृ० २५६), मार्कण्डेय द्वारा वटपत्र पर शिशुरूपी भगवान् के दर्शन (पृ० २५७), नन्दादि द्वारा दिव्यलोक दर्शन (पृ० २६७) इत्यादि।

९. शान्त

इसमें केवल बुद्ध का उदाहरण दिया गया है और वह 'रस' का ही द्योतक है।

यहाँ वात को स्पष्ट करने के लिए, अभिनवगुप्तपाद का 'काकु' के प्रसंग में निरूपण, सहायक हो सकता है। उनका कहना है कि 'काकु' तीन प्रकार की हो सकती है—१. स्वरकाकु, २. रसकाकु और ३. विभावकाकु।

तत्र शिरस्यधोभागे तार उच्यते दूरस्थाभाषणादौ, स विषयोऽत्र स्वरकाकोरित्युक्तम्। विस्मयावगतौ तु सैव रसकाकुः, परस्य त्रासनाभिप्रायेण तु सैव विभावकाकुः।

(अभिनवभारती ना० शा० १७. पृ० ३६३)

अर्थात्—शिर के निचले भाग में तार कहा जाता है, दूरस्थ व्यक्ति से भाषण आदि में उसका प्रयोग होता है और वह विषय स्वरकाकु का है। 'स्वरकाकु' को अर्थाधारित विनियोग के समक्ष रखा जा सकता है, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। विस्मय का वोध कराने पर वही 'रसकाकु' हो जाती है और दूसरे को डराने (त्रासन) के अभिप्राय से प्रत्युक्त होने पर वही विभावकाकु हो जाती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'काकु' की ही भाँति दृश्य के प्रसंग में केवल 'सादृश्य' की प्रस्तुति 'स्वरकाकु' के समकक्ष, अनुभाव-पक्ष या 'रस' की प्रस्तुति 'रसकाकु' के तुल्य रखी जा सकती है और 'विभाव' की प्रस्तुति 'विभावकाकु' के समान समझी जा सकती है।

साहित्य, नाट्य, संगीत और चित्र-मूर्ति के प्रसंग में रसाधारित विनियोग की जो चर्चा प्रस्तुत व्याख्यानों में हुई है, उससे रस-सिद्धान्त की व्यापकता का यत्किंचित् दर्शन हो सकेगा। दार्शनिक विचार भी रस के प्रसंग में बहुत कुछ हुआ है, किन्तु उस दिशा में डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डे एवं अन्य विद्वान् काफी कुछ लिख चुके हैं। इसलिए पिष्ट-पेषण से बचना ही उचित था।

इति शम्

—प्रेमलता शर्मा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दृष्टि-भेदों की तालिका

नाट्यशास्त्र	संगीत रत्नाकर	समरांगण-सूत्रधार
रस-दृष्टियाँ	**रस-दृष्टियाँ**	
१. श्रृंगार॰	१. कान्ता	१. ललिता
२. भीता	२. हास्या	२. हृष्टा
३. हास्या	३. करुणा	३. विकासिता
४. करुणा	४. रौद्री	४. भयानका
५. अद्भुत॰	५. वीरा	५. भृकुटी
६. रौद्र॰	६. भयानका	६. विभ्रमा
७. वीर॰	७. वीभत्सा	७. संकुचिता
८. वीभत्स॰	८. अद्भुता	८. योगिनी
९. शान्त॰		९. दीना
		१०. दृष्टा (दृप्ता)
		११. विह्वला
		१२. शंकिता
		१३. कुञ्चिता
		१४. जिह्मा
		१५. मध्यस्था
		१६. स्थिरा
स्थायिभाव-दृष्टियाँ	**स्थायिभाव-दृष्टियाँ**	
१. रति॰	१. स्निग्धा	
२. हास॰	२. हृष्टा	
३. शोक॰	३. दीना	
४. क्रोध॰	४. क्रुद्धा	
५. उत्साह॰	५. दृप्ता	
६. भय॰	६. भयान्विता	
७. जुगुप्सा॰	७. जुगुप्सिता	
८. विस्मय॰	८. विस्मिता	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाट्यशास्त्र	संगीत रत्नाकर		समरांगण-सूत्रधार
संचारिभाव-दृष्टियाँ	संचारिभाव-दृष्टियाँ		
	नाम	भाव	
१. शून्य०	१. शून्या	(चिन्ता)	
२. मलिन०	२. मलिना	(विहृत०)	
३. श्रान्ता	३. श्रान्ता	(श्रम)	
४. लज्जान्विता	४. लज्जिता	(लज्जा)	
५. ग्लाना	५. शंकिता	(शंका)	
६. शंकिता	६. मुकुला	(हर्ष)	
७. विषादिनी	७. अर्धमुकुला	(सुखार्थ)	
८. मुकुला	८. ग्लाना	(ग्लानि)	
९. कुंचिता	९. जिह्मा	(असूया, निगूढ़ार्थ, जड़ता, आलस्य)	
१०. अभितप्ता	१०. कुंचिता	(अनिष्ट, असूयित, तेजो-दुष्प्रेक्षा, अक्षि-व्यथा)	
११. जिह्मा	११. वितर्किता	(वितर्क)	
१२. ललिता	१२. अभितप्ता	(निर्वेद, अभिघात, उपताप)	
१३. वितर्किता	१३. विषण्णा	(विषाद)	
१४. अर्धमुकुला	१४. ललिता	(ललित)	
१५. विभ्रान्ता	१५. आकेकरा	(दुरालोक वस्तु)	
१६. विप्लुप्ता	१६. विकोशा	(गर्व, अमर्ष, विमर्श, (ज्ञान-विज्ञान)	
१७. आकेकरा	१७. विभ्रान्ता	(विभ्रम, वेग, सम्भ्रम)	
१८. विकोशा	१८. विप्लुप्ता	(आर्त्ति, दुःख)	
१९. त्रस्ता	१९. त्रस्ता	(त्रास)	
२०. मदिरा	२०. मदिरा	(मद, उन्माद, चापल)	
मध्यमदा			
अधममदा			

टिप्पणी—अधिकांश दृष्टिभेदों के नाम रसों या भावों के नामों के अनुसार हैं, किन्तु कुछ नाम ऐसे भी हैं जिन्हें अर्थाधारित कहा जा सकता है। जैसे, आकेकरा, विकोशा, विप्लुप्ता। उसी प्रकार अधिकांश विनियोग रसाधारित या भावाधारित हैं, किन्तु कुछ (बहुत थोड़े) विनियोग अर्थाधारित भी हैं। जैसे, तेजोदुष्प्रेक्ष्य अर्थात् तीव्र प्रकाश के कारण दृष्टि-कष्ट, अक्षि-व्यथा, दुरालोक वस्तु या अभिघात, उपताप।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुक्रमणिका

सानुताप पुण्यस्मरणाञ्जलि v

आभार निवेदन vi

भूमिका vii

दो शब्द xv

दृष्टि-भेदों की तालिका xxi

१. रस-सिद्धान्त का मूल और तना,
उपनिषद् और नाट्यशास्त्र में १

अनुबन्ध १७

रस और आनन्द सम्बन्धी उपनिषद् वचन, उपनिषद् में 'काम' का अधिष्ठान; रस की आनन्दात्मकता; रस और भाव को लेकर वृक्ष का रूपक; श्रीमद्भागवत में आदिकवि ब्रह्मा; आदिकवि के शोक की श्लोक में परिणति; नाट्यशास्त्र में उल्लिखित 'संयोग'; श्रीमद्भागवत के रस में 'संयोग'; लीला में 'योगमाया'; नाट्यशास्त्र में उल्लिखित अनुकरण, अनुदर्शन और अनुकीर्तन; अनुकरण की मीमांसा; नाट्य के उपकरणों के दाता देवगण तथा गन्धर्व-यक्षादि; यजुर्वेद का शिव-संकल्प मन्त्र; देवों की नाट्यकर्म में अयोग्यता; ब्रह्मा द्वारा चार वेदों का स्मरण और नाट्यवेद के अंगों का ग्रहण

२. रस-सिद्धान्त की शाखाएं—
रस का विनियोग, विभिन्न कलाओं में २८

अनुबन्ध ४८

छन्द, अलंकार आदि का रसाधारित विनियोग; सप्तस्वरों का रसाधारित विनियोग; पाठ्यगत वर्णों, अलंकारों आदि का रसाधारित विनियोग; अवनद्ध वाद्यों के अक्षरों की जातियाँ, वाद्य के मार्गों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का रसाधारित विनियोग; शिरोभेदों में 'अर्थ' के साथ-साथ रसाधारित विनियोग; हस्तभेदों में 'अर्थ' के साथ-साथ रसाधारित विनियोग; स्थानक और गति में रसाधारित विनियोग; दशरूपक विधान में रस; वर्णों और छन्दों का रसाधारित विनियोग; उद्धत और सुकुमार प्रयोग; रसों के धर्म या गुण; रेखा, पंचभूत और रस; समरांगण-सूत्रधार में रस-वर्णन और भाव-रस दृष्टियाँ; रसों के जोड़े, रंग और देवता; पूर्वरंग में अंग और गीत का स्वप्रतिष्ठितत्व; नाट्य में गीतादि का उपरञ्जकत्व; अद्भुत का सब रसों में अनुस्यूतत्व

३. रस-सिद्धान्त के पल्लव, ध्वनि-सिद्धान्त में ८०

अनुबन्ध ९७

ध्वनि-सिद्धान्त का मूल व्याकरण में; अर्थ का अनुरणन; काव्यार्थ समझने के लिए सहृदयता की अनिवार्यता; बृहद्देशी में स्वर शब्द की व्युत्पत्ति; स्वर के लक्षण में अनुरणनात्मकता का ग्रहण; तन्त्रालोक में 'अनुरणन' पर विचार; भाव और रस वाच्य नहीं हैं; मुक्तक में प्रबन्ध की भाँति रसवत्ता, मुक्तक में पूर्वापर निरपेक्षता; ध्वनि के प्रतिपादन में संगीत के दृष्टान्त; संगीत में अक्षरमात्र का पदत्व; केवल श्रुतिमधुर काव्य की संगीत से समानता; गान्धर्व के घटक स्वर-ताल और पद

४. रस-सिद्धान्त की पतझड़, अनास्था के आधुनिक स्वर और वसंत की पदचाप १०४

अनुबन्ध ११९

रसों की आठ संख्या; करुण ही एकमात्र रस; रसास्वाद-दशा का निरूपण; शान्त की प्रकृति-रूपता; आनन्द में ही भूतों की सृष्टि, स्थिति, लय; 'बहु' के संयोग से अपूर्व रस की उत्पत्ति; प्रसादजी के 'कामना' नाटक के प्रथम अंक का अंश; स्वरलिपि

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची १२७

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१

रस-सिद्धान्त का मूल और तना, उपनिषद् और नाट्यशास्त्र में

मैं अपने आपको इस वात से वहुत ही सम्मानित समझती हूँ कि *वत्सल निधि* ने मुझे इस व्याख्यानमाला के लिए आमन्त्रित किया। साथ ही मुझे अपनी अपर्याप्तता का भी पूरा भान है। फिर भी मैंने इस आमन्त्रण को स्वीकार किया, केवल इसलिए कि इससे मुझे कुछ विचार करने का अवसर मिलेगा और इस व्याख्यान से पहले इस विषय को लेकर जहाँ मैं खड़ी थी, वहाँ से शायद एकाध कदम आगे बढ़ सकूँगी। वैसे नो इस विषय को पढ़ाने का अवसर मुझे कम-से-कम २५-३० वर्ष तक मिला है, क्योंकि संगीतशास्त्र के अध्यापन में रस एक अनिवार्य तत्त्व रहता है और अध्यापन मैं करती रही हूँ वहुत वर्षों तक। कुछ सोचती भी रही, विशेष रूप से संगीत के सन्दर्भ में सोचती रही, किन्तु फिर भी चार दिन तक इस विषय पर कुछ कहने का यह आमन्त्रण अपने आप में एक चुनौती भी था और एक बड़ा शुभ अवसर भी। मैं इसे इसी शुभ अवसर के रूप में ग्रहण करती हूँ कि मुझे अपने विचारों को कुछ और सुथरा वनाने का, शायद कुछ और स्पष्ट वनाने का, निर्मल वनाने का यह अवसर मिला है। इसी कारण मैंने इसे स्वीकार किया, इस कारण नहीं कि मैं अपने को किसी प्रकार भी इसके योग्य समझती थी या समझती हूँ।

रस पर अनेक आचार्य वहुत कुछ लिख चुके हैं। अभिनवगुप्तपाद ने अपने पूर्ववर्ती कई आचार्यों के मत उद्धृत किये हैं, जो हम लोग कई वर्षों से एम० ए० के छात्रों को, साहित्य के छात्रों को पढ़ाते चले आये हैं। हमने भी उसी प्रकार से पढ़ा था। मैंने सोचा कि इस समय मैं उन सब बिन्दुओं को उठाऊँ ही नहीं, जो कि उन आचार्यों ने उठाये हैं। मैं वहुत सरल-सीधी भाषा में और मुख्य रूप से नाट्य-शास्त्र के मूल को लेकर कुछ वातें करना चाहूँगी। हमारे यहाँ वृक्ष का रूपक वहुत ही प्रिय रूपक रहा है, चाहे वह अध्यात्म के प्रसंग में हो या कलाओं के निरूपण में हो। तो, मुझे भी उसी रूपक का सहारा लेना पड़ा और इस व्याख्यानमाला का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शीर्षक देने को जव मुझे कहा गया, तो मैंने शीर्षक यही दिया कि रस के मूल शाखा, पल्लव और पतझड़—इन चार शब्दों को चार व्याख्यानों में केन्द्र में रखूँगी। आज मैं मूल की वात करूँगी। मूल से मैं यह समझती हूँ कि रस-सिद्धान्त का मूल तो उपनिषद् में है, जो कि वेद का ही शीर्षभाग है। इसलिए मूल वेद में है, ऐसा कह सकते हैं। मूल वेद में है, किन्तु यदि उसे वृक्ष मानें, तो उसका तना नाट्यशास्त्र है। निश्चित रूप से उसका तना नाट्यशास्त्र को ही मानना होगा, क्योंकि इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित करने का काम नाट्यशास्त्र ने ही किया है। न केवल प्रतिष्ठापित, वल्कि उसकी व्याख्या भी की है अपने ढंग से। नाट्यशास्त्र की एक अपनी पद्धति है। उसी पद्धति से उसने व्याख्या की है, दर्शनों की पद्धति से व्याख्या नहीं की है। दर्शन की अलग पद्धति होती है। मैं अभी दर्शन की पद्धति में नहीं जाऊँगी। हमारे अध्यक्ष माननीय सिंघवीजी ने न्याय दर्शन का उल्लेख किया। मैं उसमें बिल्कुल भी नहीं प्रवेश करने वाली हूँ, इतना मैं पहले ही निवेदन कर देना चाहती हूँ।

केवल उपनिषद् के साथ नाट्यशास्त्र का सम्वन्ध कैसे वैठता है, या नाट्यशास्त्र ने किस प्रकार उपनिषद् के बीज को लेकर यह वृक्ष खड़ा किया है, इसका तना वनाया है, फिर वह जो तना वना, उसकी शाखाएँ किसी प्रकार बनीं ? अन्य सभी कलाओं ने, चाहे वह साहित्य हो या शिल्प, स्थापत्य हो या संगीत, जो कि नाट्य के अंगभूत तो होती ही हैं, किन्तु जिनका अपना स्वतन्त्र स्वरूप भी है, ऐसी जितनी भी कलाएँ हैं, इन सबने भी किस प्रकार रस को ही अपना चरम उद्देश्य माना और किस प्रकार उसका निरूपण किया, यह सब मैं समझती हूँ कि इस तने की, इस वृक्ष की शाखाएँ हैं। कल मैं इन शाखाओं की चर्चा करूँगी। आज मूल और तने की चर्चा करूँगी। तीसरे व्याख्यान में इसी सिद्धान्त के पल्लव के रूप में यानी इसको एक नवीन रूप से प्रस्तुत करने में ध्वनि-सिद्धान्त का क्या योगदान है, इस पर बात करूँगी और चौथे दिन पतझड़ की बात करूँगी, जिसकी ओर इंगित किया सिंघवीजी ने यह कहकर कि आज ऐसा समझा जाता है कि रस-सिद्धान्त कलाओं के लिए उपयोगी नहीं है या आवश्यक नहीं है। तो मुझे लगता है कि यह पतझड़ मात्र है। पतझड़ से कोई वृक्ष नष्ट नहीं हुआ करता। उसमें पुन: नवजीवन का संचार प्रतिवर्ष वसन्त में होता है और जैसा कि सिंघवीजी ने कहा, मुझे भी ऐसा ही लगता है कि यह केवल पतझड़ है। पुनः चाहे जिस नवीन रूप में इस युग को ग्राह्य हो, रस तो हमारे साथ रहने ही वाला है। इसलिए मैंने पतझड़ संज्ञा दी है उसको।

अब मैं मूल की वात पर आ जाती हूँ। बीज और तना दोनों की वात करूँगी। बहुत सीधी-सादी बातें करूँगी, यथासम्भव शास्त्रीय भाषा का प्रयोग नहीं करूँगी, ऐसा दो कारणों से—एक तो यह कि शायद मुझसे उसमें कहीं भूलचूक हो सकती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरे, यह भी कि वह बात आचार्यों ने इतनी कह दी है, कि अब मुझ जैसा व्यक्ति उसमें नया क्या कहेगा ! मैं तो केवल एक बहुत विनम्र विद्यार्थी के रूप में क्या सोचती रही हूँ, और यदि मुझे कुछ सूझा हो थोड़ा-बहुत, उसी की बात करूँगी। और विभिन्न मत-मतान्तरों की चर्चा में भी मैं नहीं जाऊँगी, क्योंकि उसका हम लोग बहुत पिष्टपेषण कर चुके हैं। पिछले २५-३० वर्षों में बहुत पिष्टपेषण हो चुका है और कभी-कभी तो जिस प्रकार की पाठ्य-पुस्तकें देखने में आती हैं, उनमें वादों के नाम दे दिये जाते हैं, उनके साथ आचार्यों के नाम जोड़े जाते हैं, उस सबको मैं सर्वथा छोड़ दूंगी, क्योंकि नया कहने को उसमें मेरे पास कुछ नहीं है।

जब बीज की बात आती है तो हम सबने तैत्तिरीय का वह वाक्य असंख्य बार सुना होगा—*'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'*। (द्र० अनु० १ क) यह तो बड़ा भारी सूत्र है। रस की चर्चा आते ही इसका उच्चारण न किया जाय, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। हम सभी लोग इसका स्मरण करते रहे हैं। मेरे मन में बहुत वर्षों से यह सवाल उठता रहा है कि यहाँ ये दो शब्द क्यों हैं। एक शब्द है रस और दूसरा आनन्द। *'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'* रस को प्राप्त करके 'अयं' इसका अर्थ, मैं समझती हूँ, 'पुरुषः' ही होगा, जिसे हम जीवात्मा कहते हैं, *'अयं पुरुषः आनन्दी भवति'*। तो क्या रस कोई भिन्न पदार्थ है आनन्द से, या दोनों में कोई तरतमभाव है? यह मैं केवल सवाल रख रही हूँ, ऐसा कुछ है नहीं, लेकिन ये प्रश्न जो मेरे चित्त में उठते रहे उनका केन्द्र यही था कि क्यों ये दो शब्द रखे गये। और इसके बाद एक और सवाल बहुत ही बड़ा है, वह यह कि नाट्यशास्त्र, जिसके लिए मैंने कहा कि उसने रस के सिद्धान्त को उपनिषद् से लेकर कला में प्रतिष्ठित किया, वह आनन्द शब्द एक बार भी प्रयोग में नहीं लाता। नाट्यशास्त्र में केवल रस शब्द है, आनन्द शब्द है ही नहीं। ऐसा क्यों? यह सवाल बहुत वर्षों से मेरे मन में उठता रहा। जब इस व्याख्यान-माला की बात आयी, तब पुनः उठा और फिर इस पर सोचती रही। जो कुछ थोड़ा-बहुत मुझे समझ में आया, उस पर ही कहूँगी। मैंने कहीं से कुछ पढ़ा नहीं है इस पर, केवल थोड़ा-बहुत चिन्तन का ही सार है और कुछ भी नहीं है मेरे पास।

ऐसा लगा कि रस शब्द में कुछ विलक्षणता है। यह तो ठीक है कि रस आनन्दात्मक ही है। रस का स्वरूप यदि कोई पूछे, तो उपनिषद् में स्थिर कर दिया है, *'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'*। तो, उसका स्वरूप आनन्दात्मक है, आनन्दमय है, आनन्द के सिवा कुछ नहीं है। ठीक है बिल्कुल, किन्तु ऐसा क्यों है कि जब कला के चरम उद्देश्य या कला की चरम निष्पत्ति जहाँ हो सकती है, उसका प्रतिपादन हुआ, तो आनन्द शब्द न लेकर रस शब्द लिया गया? अब मैं बहुत स्थूल बात करती हूँ। उपनिषद् ने ही आनन्द को आकाश के साथ जोड़ा है। *'कः अन्यात् कः प्राण्यात्, यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्।'*(द्र० अनु० १ क) यह कहा। यहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस जगत् में कोई भी प्राणी कैसे रह सकता था, कैसे प्राण का संचरण भी हो सकता था, यदि यह आकाश, जो कि आनन्दात्मक है, न होता ? इसका अर्थ यह नहीं कि आनन्द आकाश है। अपितु, यदि आनन्द का भूतों के साथ कोई औपम्य दिखाना हो, यदि कहीं भी उसकी तुल्यता पंचभूतों में से दिखाना हो, तो वह आकाश के साथ ही हो सकती है। *'यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्'* ।

भूतजात के स्तर पर तो इसका अर्थ मैं इतना सा ही समझती हूँ कि आनन्द का औपम्य आकाश के साथ रखा उपनिषद् ने और वैसे भूतजात को यदि छोड़ दें, और चिदाकाश की बात करें, तो वह तो आनन्दात्मक है ही। उसमें कोई दो राय ही नहीं है। किन्तु मैं इस बात की ओर आप लोगों का ध्यान दिलाना चाहती हूँ कि जब आनन्द की बात की है उपनिषद् ने, तो उसके साथ भूतों में से आकाश को उसके समतुल्य, समकक्ष रख कर निरूपण किया है। यद्यपि यह उपनिषद् में कहा नहीं है, लेकिन यह तो स्पष्ट बात है कि रस शब्द को लेकर यदि हम पंचभूतों में से किसी के साथ औपम्य जोड़ने चलेंगे, तो वह जल ही हो सकता है, क्योंकि जल का गुण है रस या वह उसका धर्म है। जिस प्रकार कि श्रोत्रग्राह्य शब्द आकाश का गुण या धर्म है, उसी प्रकार मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों में से रस का ग्रहण रसना द्वारा, रसनेन्द्रिय द्वारा होता है, जिसका कि जल से ही संबंध है। मुझे लगता है कि यहीं पर हमें थोड़ी-सी प्रकाश की किरण दिखाई देती है। इन दोनों उपमाओं को यदि हम देखें, तो ऐसा लगता है कि आकाश जिस प्रकार अखण्ड है उसी प्रकार उसमें न उपचय (जोड़) है और न अपचय (घटाव) है, न उसमें किसी का मिश्रण है, न उसमें कुछ जोड़ा जा सकता है न उसमें से कुछ घटाया जा सकता है और न उसमें किसी प्रकार के सम्मिश्रण या संयोग और वियोग की सम्भावना है। यह सब आकाश में तत्त्वतः नहीं है। किन्तु जल तो रसात्मक है, जिसका कि गुण रस है। अभी मैं इन्द्रिय स्तर की ही बात कर रही हूँ।

इन्द्रिय के स्तर पर रस या स्वाद जिसे हम कहते हैं, यह एक तत्त्व है, जो कि संयोग से ही निष्पन्न होता है, जिसमें संयोग बहुत आवश्यक है। बिना संयोग के रस की कल्पना नाट्यशास्त्र में नहीं की गयी है। मैं संयोग शब्द की ओर आपका ध्यान दिलाना चाहती हूँ, यह संयोग कैसा ? वह संयोग ऐसा है, जो कि मनुष्य के प्रयत्न से निष्पन्न होता है। यानी नाट्यशास्त्र ने जब रस की बात उठाई, तो यह उदाहरण नहीं दिया, कि पेड़ से कोई सुन्दर पका हुआ फल ले लीजिए और उसका जो भी स्वाद होता है, वह रस है। ऐसा नहीं कहा। प्रकृति के फलों के स्वाद की बराबरी भला मनुष्य का बनाया हुआ व्यंजन क्या कर सकता है ? लेकिन नाट्यशास्त्र ने उसकी बात नहीं उठाई है। जब नाट्य के रस की चर्चा उठाई, तो कहा कि *'अत्र को दृष्टान्तः'* ? कोई दृष्टान्त है ? नाट्य में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आप कह रहे हैं रस है, इसका क्या दृष्टान्त है? तो कहा कि हाँ है, दृष्टान्त है। और उसमें यही कहा कि व्यंजन, औषधि, द्रव्य इनके संयोग से जिस प्रकार रस निष्पन्न होता है, रस यानी स्वाद निष्पन्न होता है, वैसे ही नाट्य में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी के संयोग से रस निष्पन्न होता है। तो, यह जो कहा, इसमें संयोग शब्द वहुत महत्त्व का है और वह संयोग मनुष्य के प्रयत्न से ही निष्पन्न होता है, स्वाद में भी; नाट्य में तो कोई बात ही नहीं है, कला तो सारा मनुष्य का ही व्यापार है। किन्तु मैं इस बात की ओर ध्यान दिलाना अवश्य चाहती हूँ कि जब स्वाद की बात की गयी है, तो उस स्वाद को सीधे प्रकृति से प्राप्त स्वाद नहीं कहा गया है। व्यंजन, औषधि, द्रव्य इनका संयोग किया जायेगा तो उसमें से जो एक स्वाद बनता है, वह कोई गणित-सम्मत जोड़ नहीं है। यानी इतना-सा नमक है, इतना-सा गुड़ है, इसमें यह काली मिर्च है, यह हल्दी है, यह सब है। और फिर कोई आपका मुख्य उपादान भी है, जिसको कि आप बना रहे हैं। अब उसमें से जो स्वाद बनेगा वह इन सब का योग या जोड़ होते हुए भी इस संयोग के कारण कुछ नवीन निष्पत्ति हुई है। यानी अकेले हम थोड़ी-सी काली मिर्च चबा लें, थोड़ी हल्दी चबा लें, थोड़ा नमक मुँह में डाल लें, थोड़ा गुड़ मुँह में डाल लें, तो उससे उस स्वाद की निष्पत्ति नहीं होती, जो कि संयोग के द्वारा होती है और यह संयोग अवश्य मनुष्यकृत है।

यह सारी की सारी व्याख्या, आयुर्वेद के रस के साथ जोड़ती है कला के रस को। यानी दृष्टान्त जो लिया गया है, वह आयुर्वेद में जिसको हम रस कहते हैं, उसका है। क्योंकि सारे पाक का शास्त्र तो आयुर्वेद के अन्तर्गत ही आता है। पाक-विद्या जो भी है, वह आयुर्वेद के अन्तर्गत आयेगी। तो इसलिए आयुर्वेद में जो छः रस कहे गये मधुर इत्यादि, उनका दृष्टान्त दिया है नाट्यशास्त्र में और यह तभी सम्भव था जब रस शब्द को लिया गया। आनन्द शब्द को यदि लें, तो यह दृष्टान्त उसमें सम्भव नहीं है। मैं इन दोनों शब्दों को इसलिए पृथक् रख के देखने की कोशिश करती रही हूँ और आज भी कर रही हूँ कि जब उपनिषद् ने यह कहा कि *'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'* तो यह भी ध्यान देने की बात है कि *'रसो वै सः'* कहा है। यदि ब्रह्म कहा होता, तो *'सः'* नहीं कहता उपनिषद्। *'रसो वै सः'* यह वही तत्त्व है, जिसको कहा है *'सोऽकामयत्'*। (ब्र० अनु० १ ख) प्रथम काम का उदय जिस तत्त्व में दिखाया है, उसी तरह *'रसो वै सः'* कहा। और *'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'*। अयं=पुरुषः, जीवात्मा कहें आप। दर्शनों में आप उसको कुछ भी कहें। तो, मेरा कहने का इतना ही तात्पर्य है कि रस की व्याख्या जिस स्तर से हो सकती है, आनन्द की व्याख्या बिल्कुल उसके समतुल्य नहीं होगी। आनन्द तो रस का धर्म है ही। रस आनन्द के बिना कुछ नहीं है। फिर भी रस की व्याख्या हम जिस प्रकार से रसनेन्द्रिय के साथ जोड़ के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर सकते हैं और जिस प्रकार हम उसमें संयोग की व्याख्या कर सकते हैं, वैसी व्याख्या आनन्द शब्द को लेकर चलें, तो सम्भव नहीं है।

पुनः स्मरण दिलाऊँ कि नाट्यशास्त्र में रस शब्द की ही व्याख्या की गयी, उसको आनन्द कहकर व्याख्या नहीं की गयी। यह तो मान ही लिया गया कि जो कुछ रस का धर्म है, वह तो आनन्द ही है। दूसरा कोई निरानन्द थोड़े ही उसका धर्म है? (द्र० अनु० १ ग) किन्तु फिर भी उस आनन्द तक पहुँचने की जो प्रक्रिया है, वह रस शब्द के साथ जुड़ी हुई है। मैं कहना यह चाहती हूँ कि आनन्द शब्द जो है, वह तो निर्विशेष है। किसी भी रास्ते पर चलकर आप आनन्द पर पहुँचें, तो जो प्राप्त होगा, वह एक-सा ही आनन्द होगा। प्रक्रिया की व्याख्या आनन्द शब्द में अन्वित नहीं है। उसमें यह जानना आवश्यक भी नहीं है कि किस प्रक्रिया से आप आनन्द पर पहुँचे। यदि प्रक्रिया की चर्चा करना हो, तो रस शब्द अधिक अनुकूल है और वही लिया गया। उसमें प्रक्रिया की व्याख्या वहुत अच्छी तरह वन जाती है, क्योंकि संयोग की वात उसमें आ जाती है। आयुर्वेद वहाँ वहुत सहायता करता है हमारी। रसनेन्द्रिय की निष्पत्ति में जो संयोग की प्रक्रिया वताई, ठीक वही प्रक्रिया कला में लागू हो जाती है। ऐसी कम-से-कम नाट्यशास्त्र की मान्यता है। नाट्यशास्त्र ने उसी पद्धति को अपना कर रस की व्याख्या की है। आपने वह पढ़ी ही होगी, फिर भी मैं उसका पुनः थोड़ा-सा पाठ कर लेना चाहती हूँ और फिर उस पर दो शब्द और भी कहूँगी। पहले तो नाट्यशास्त्र ने रस पर कुछ भी कहने से पहले यह कह दिया कि '*न हि रसादृने कश्चिदर्थः प्रवर्तते*'। यह इतना वड़ा एक सूत्र हमारे हाथ में दे दिया। कोई भी अर्थ प्रवर्तित ही नहीं होता रस के विना। यानी कहीं से भी आरम्भ करिए आप, कोई भी वात कला में शुरू करिए, रस के विना वात आगे वढ़ेगी ही नहीं। यानी आरम्भ में भी रस है और अन्त में भी रस है, वीच में कुछ प्रक्रिया जरूर है। इसी के लिए ना० शा० ने फिर से वृक्ष का रूपक लेकर एक और व्याख्या की है—

यथा वीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः॥

(द्र० अनु० १ घ)

इसकी व्याख्या आचार्यों ने यही की है कि यह जो कहा कि जैसे वीज से वृक्ष होता है, और वृक्ष से पुष्प और फल होता है, वैसे ही कला के मूल में रस है। यह मूल में रस क्या है? इस पर अभिनवगुप्तपाद ने यही वताया कि मूल में जो रस कहा है, यह कवि का हृद्गत रस है। कवि शब्द भी हमारी परम्परा का वहुत व्यापक शब्द है। आज हम अंग्रेजी 'पोएट' का उलथा करते हैं कवि। यहां कवि शब्द का उतना संकुचित अर्थ नहीं है। कवि का मतलव है, कोई भी जो कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कवि

कलात्मक निर्माण या सर्जन करता है, क्योंकि ब्रह्मा का नाम कवि है।

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
(द्र० अनु० १ ङ)

ब्रह्मा को आदिकवि कहा श्रीमद्भागवत के प्रथम ही श्लोक में। कवि यानी स्रष्टा। तो, कला के जगत् में स्रष्टामात्र कवि है, चाहे वह काव्य बनाए, या संगीत बनाए या नृत्य। जिसका भी निर्माण करे, रचना करे, रचनाधर्मिता का नाम ही कवि है। कवि का हृद्गत रस ही मूल है रस का, कला में। इसका मतलब यह है कि हम आप तो कला में से रस-ग्रहण करेंगे, किन्तु कवि सीधे जीवन में से रस-ग्रहण कर सकता है; जो ऐसा करता है वही कवि है। वही आदिकवि के लिए जो कहा—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्व-वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥
(द्र० अनु० १ च)

आदिकवि को क्रौंचद्वन्द्व का वियोग देखकर, जो पक्षियों का जोड़ा बिछुड़ गया था, उसकी पीड़ा को देखकर जिस शोक की अनुभूति हुई, वही श्लोक बन गयी। इस पर अभिनवगुप्तपाद ने बहुत लम्बी-चौड़ी टीका की है, जिसमें यह कहा है कि शोक का मतलब यह नहीं कि मुनि शोक-मग्न हो गये थे। *'नासौ मुनेः शोकः'* यह कहा है। वह अगर शोक-मग्न हो गया हो तो उसके मुख से काव्य नहीं निकलेगा। *'न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यं एवं हि सति तद्दुःखेन सोऽपि दुखितः इति कृत्वा'*, तो वह दुःखी हो जायेगा। दुःखी थोड़े ही हो गये थे मुनि ! उस शोक के साथ तादात्म्य जरूर हो गया था उनका, लेकिन दुःखी नहीं हो गये थे, नहीं तो फिर 'रस नहीं होता। कह रहे हैं अभिनवगुप्त— *'न च दुःखसंतप्तस्य चैषा दशा भवति'*। जो दुःख से संतप्त हो जाय, उसके मुख से श्लोक थोड़े ही निकलता है। उसकी ऐसी दशा नहीं होती कि उसके मुख से श्लोक निकल जाय। उनके लिए तो वह घटना एक निमित्त जरूर बनी। लेकिन 'शोकस्थायिभावात्मक-करुण-रस-समुच्चलन-स्वभावत्वात् स एव···।' वह तो उस शोक के स्थायी भाव की ऐसी चर्वणा हुई, कवि के भीतर उसके कारण इस प्रकार से एक मन्थन हुआ जिससे कि वे एक व्यापक करुणा के साथ तदात्म हो गये। न वह करुणा उनकी अपनी है और न उस पक्षी की है। एक व्यापकता के स्तर पर पहुँच गये, तब वह जो अनुभूति हुई, जिसके कारण श्लोक निकला है, वही अनुभूति कवि का हृदयगत रस है, चाहे जिसका, चाहे संगीतकार का, चित्रकार का, शिल्पकार का या किसी का भी।

इसलिए कवि का हृद्गत जो रस है, उसे बीज बताया ना० शा० ने और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फिर यह कहा कि पहले बीज से वृक्ष बना। वृक्ष है काव्य या जो कलाकृति हो, वह उस बीज का वृक्ष है। पुष्पादि, यदि वह प्रयोगात्मक कला है, तो उसमें जो भी प्रयोक्ता का कर्म है, उसको नाट्य में हम कहें, तो नटव्यापार होगा, संगीत में हो तो गायक-व्यापार हो सकता है, वादक-व्यापार हो सकता है, यदि पाठ हो तो पाठक-व्यापार हो सकता है। कुछ भी हो सकता है। नटव्यापार कह दिया यहाँ तो। अभिनयादि नटव्यापार जो है, यह पुष्पादि है। और फल क्या है। पुनः सामाजिक को रसास्वाद। जिस प्रकार कि बीज में और फल में प्रकृति में एक मण्डलाकारता है, वैसे ही कला में इस एक मण्डल की कल्पना की गयी है, कविगत रस से लेकर सामाजिक के रसास्वाद तक। जो सामान्य मनुष्य से अधिक संवेदनशील है, उसी को हम कवि मानेंगे। वह अधिक संवेदनशील है, इसकी व्याख्या क्या है ? यही कि जीवन में से सीधे वह, किसी जीवन की अवस्था में से, रस-ग्रहण कर सकता है, जो कि हम आप उतनी आसानी से नहीं कर सकते। तो फिर उस रसग्रहण के आधार पर वह जो निर्मिति करेगा, उसके द्वारा भी फिर निष्पन्न क्या होना है ? लौटकर पुनः सामाजिक द्वारा रसास्वाद। यह कुछ ऐसी ही बात है कि मान लीजिए कि मैंने कोई फल खाया, अब मैं चाहूँ कि वही फल आपको खिलाऊँ, तो वह फल कैसे खिलाया जा सकता है ? एक ही रास्ता है कि उसके बीज को मैं बो दूँ। वह जब वृक्ष बने और उसमें जब फल आये, तब यह कहा जा सकता है कि वही-का-वही फल आपको मैं खिला पा रही हूँ। उसी मण्डलाकार गति की कल्पना यहाँ हमारे सामने ना० शा० ने खड़ी की है कि कवि का हृद्गत रस वह बीज है। फिर उससे वृक्ष कलाकृति के रूप में बढ़ता है और यदि कुछ क्रिया-कलाप उसमें होना है, वे उसके पुष्पादि हैं और अन्तिम फल वही है, पुनः सामाजिक के द्वारा रसास्वाद। यह उसकी अन्तिम निष्पत्ति है।

तो यह जैसे वृक्ष का रूपक लेकर ना० शा० ने व्याख्या की, वैसे ही—'*रस इतिः कः पदार्थः*'—यह जो सवाल पूछा मुनियों ने तो उत्तर में '*विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः*' सूत्र कह दिया। (द्र० अनु० १ छ) फिर पूछा कि कोई दृष्टान्त है ? '*को दृष्टान्तः*' ? इस दृष्टान्त की ओर ही मैं ध्यान दिलाना चाहती हूँ कि यह दृष्टान्त कैसा है। यह दृष्टान्त ही हमें रस के धर्म का या उसकी प्रक्रिया का बोध कराता है, और कुछ नहीं। सीधे-सीधे इसके शब्दों को लेकर मैं बात कर रही हूँ। जब पूछा गया कि '*को दृष्टान्तः*' तो कहा कि '*अत्राह*···*यथा-हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः*', यह रस-निष्पत्ति जो है यह रसना के स्वाद वाली है। रस यानी रसना को जो स्वाद मिलता है। जैसे कि व्यंजन, औषधि और द्रव्य के संयोग से 'रस' बनता है। यहाँ भी तीन ही तत्त्व रख दिये हैं, जैसे वहाँ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी रखा है। स्थायी का नाम नहीं लिया, क्योंकि लेना जरूरी नहीं था, वैसे ही यहाँ भी तीन ही का नाम लिया है व्यंजन,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

औषधि और द्रव्य। इनसे जैसे रस की निष्पत्ति होती है, *'तथा नानाभावोपगमाद् रसनिष्पत्तिः'*, वैसे ही ये नाना भाव, जो तीन प्रकार के भाव हम अभी कह चुके हैं, उनके एक साथ होने से, उपगम से रस निष्पत्ति होती है। फिर से और व्याख्या करते हैं—*'यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरोषधिभिश्च'*, गुडादि को द्रव्य में डाला है, मुझे लगता है कि वह मुख्य स्वाद बनायेगा। क्योंकि कोई भी पाक करने से पहले हम यह तो तय कर लेते हैं कि यह मीठा बनाना है हमें या नमकीन बनाना है या खट्टा बनाना है, यानी मुख्य स्वाद इसका क्या होगा। जो मुख्य स्वाद देगा, वह द्रव्य है, फिर उस मुख्य स्वाद में जो थोड़ा-बहुत जोड़ेगा, उसमें थोड़ी और विलक्षणता लायेगा, वह सारी औषधि है, जिनको हम मसाले कहते हैं। और व्यंजन है जलस्थानीय जो कि रस का मुख्य अभिव्यंजक है और वैसे तो संस्कृत में मसाले को भी 'व्यंजक' कहा गया है, क्योंकि वह स्वाद को प्रस्फुटित करता है। जो भी आपका मुख्य उपादान है, उसके स्वाद को मसाला बढ़ाता है, अभिव्यक्त करता है, इसलिए भी उसको 'व्यंजन' कहा है। अस्तु, यहाँ व्यंजन शब्द मसाले के अर्थ में नहीं है, क्योंकि औषधि कह दिया है यहाँ। यहाँ अभिनवगुप्तपाद ने यह भी बता दिया कि रसना के प्रसंग में जो तीन नाम लिये गये व्यंजन, औषधि और द्रव्य—इनका हमारे प्रसंग में क्या अर्थ बैठता है। उन्होंने कहा कि यहाँ जो व्यंजन है, उसको समझिए आप जल, क्योंकि जल ही स्वाद देने वाला प्रमुख तत्त्व है। और कलागत रस के प्रसंग में वह विभाव है। जो मसाले कहा, उनको अनुभाव समझ लीजिए। द्रव्य को व्यभिचारी समझ लीजिए। स्थायी का नाम वहाँ भी नहीं लिया है, यहाँ भी उसके तुल्य कुछ भी नहीं रखा है। वहाँ भी तीन शब्द हैं, यहां भी उनके तुल्य तीन शब्द डाल दिए हैं और उन्हें रसनेन्द्रिय से जोड़ दिया है।

अब मैं यह कहना चाहूँगी कि रसनेन्द्रिय से जोड़ने का क्या तात्पर्य हो सकता है। अब मैं जो बोलूँगी, वह अभिनवगुप्तपाद की भाषा नहीं है। मैं जिस तरह से सोचती रही हूँ केवल उसे कहने जा रही हूँ। उसी रस शब्द पर पुनः लौट कर कहना पड़ता है कि रस शब्द न हो तो कलागत व्यापार को रसना से नहीं जोड़ा जा सकता। रसना के साथ यदि न जोड़ें, तो क्या हानि है? या रसना के साथ जोड़ने से इस प्रतिपादन में क्या विलक्षणता आ जाती है, उस पर मैं थोड़ा-सा निवेदन करूँगी।

सारे इन्द्रिय-व्यापारों को यदि हम देखें, तो रसना का व्यापार अन्य इन्द्रिय-व्यापारों से कुछ भिन्न है; दो-तीन बातों में अवश्य भिन्न है। एक तो यही बात कि कम-से-कम भारतीय संस्कृति में रसना का व्यापार मनुष्य के द्वारा किसी-न-किसी संस्कार के साथ जुड़ा हुआ है। यानी मनुष्य अन्न को संस्कारित करके खाता है। कुछ-न-कुछ उसमें संस्कार करता है। 'संस्कृत अन्न' नाट्यशास्त्र में भी आया है, एक-दो वाक्य बाद आया है। *'नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसान्*

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आस्वादयन्ति'। नाना व्यंजनों के द्वारा जो संस्कृत हुआ है, ऐसे अन्न को खाकर रस का ग्रहण करते हैं। कौन करते हैं, *सुमनसः पुरुषाः*। अच्छे मनवाले पुरुष। भोजन में भी 'सुमनस्' डाल दिया जिसको कि रस के प्रसंग में हम 'सहृदय' कहते हैं। वहाँ हम 'सहृदय' कहते हैं, यहाँ 'सुमनस्' कह दिया। तो ऐसी कौन-सी बात है, जिसके कारण इसी एक उपमा को चुन लिया गया ? यदि आकाश लेकर चलते, तो शब्द की कोई बात करनी पड़ती। यदि आनन्द के साथ आकाश का औपम्य लेकर चलते, तो फिर रसनेन्द्रिय को नहीं लाया जा सकता था। मैं इसी बात को पुष्ट करना चाह रही हूँ कि क्यों रस शब्द को ही ग्रहण किया गया और उसी के माध्यम से आनन्द का संकेत किया गया, सीधे आनन्द को लेकर बात क्यों नहीं की गयी। रस शब्द को रसनेन्द्रिय के साथ सीधे जोड़ा जा सकता है और उस जोड़ने से हमारे प्रतिपादन में क्या विशिष्टता आ जाती है, इसी पर मैं थोड़ा-सा कहूँगी।

सारी इन्द्रियों में से रसना के व्यापार में दो-तीन विशेषताएँ हैं। एक तो यही कि रसना के द्वारा जिस रस या स्वाद का हम ग्रहण करते हैं, उसमें मनुष्यकृत संस्कार या मनुष्य का प्रयत्न स्वतः अन्वित है। कम-से-कम भारतीय संस्कृति में तो बहुत अन्वित है। किसी भी पदार्थ को सीधे लेकर हम ग्रहण नहीं करते हैं। कुछ-न-कुछ संस्कार उसका करते ही हैं। तो, जैसे कला पूरा मनुष्य का व्यापार है, ~~पुरुष का व्यापार है,~~ प्रकृति का व्यापार नहीं है, इसी प्रकार यहाँ भी सभी इन्द्रियों में से रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य पदार्थ जो हैं, वे विशेष रूप से मनुष्यकृत प्रयत्न के परिणाम हैं। क्योंकि उनमें संयोग होना है बहुत कुछ, यही संयोग शब्द बहुत महत्त्व का है। यहाँ मुझे स्मरण आता है कि श्रीमद्भागवत के आरम्भ में यह कहा गया—

> निगमकल्पतरोर्गलितं फलं, शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
> पिबत भागवतं रसमालयं, मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ।।

(द्र० ग्रनु० १ ज)

निगमकल्पतरु का यह गलित फल है, बिल्कुल पका हुआ फल है, लेकिन पके हुए फल को आपको श्रीमद्भागवतकार सीधे नहीं दे रहा है। *'शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्'* तोते ने उसमें चोंच लगाई है। शुकदेव, शुकमुनि के लिए तोते का रूपक ले लिया। उनके मुख का अमृत का द्रव भी उसमें मिल गया है। कुछ संयोग तो होना ही चाहिए, सीधे फल हम नहीं लेंगे। वहाँ और कुछ नहीं, व्यंजन-औषधि-द्रव्य का संयोग नहीं है, किन्तु शुक के मुख का अमृतद्रव तो उसमें फिर भी मिलाया है। वहाँ भी 'संयुत' शब्द कहा। तो यह संयोग की जो बात है, यह रसनेन्द्रिय के व्यापार में बहुत स्पष्ट है, स्फुट है अन्य इन्द्रियों के व्यापार की अपेक्षा। रंगों का भी मिश्रण होता है दृश्यजगत् में, यह ठीक है, लेकिन वह मिश्रण जो होता है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह एक विशेष स्तर पर होता है। यह तो बिल्कुल सार्वभौम स्तर की बात है, जो हम कर रहे हैं रसनेन्द्रिय की बात।

दूसरी बात यह है कि यहाँ रसना के व्यापार में आश्रय और विषय इन दोनों का इतना घनिष्ठ संयोग है कि दोनों पृथक् नहीं रह जाते। ऐसा और किसी इन्द्रिय के व्यापार में नहीं है। आप देख लें। हम कोई भी दृश्य देखते हैं, तो सौ-पचास, हजार दो हजार सभी लोग एक साथ देखते हैं लेकिन वह किसी का अपना नहीं हो जाता। सब देख रहे हैं, सब सुन रहे हैं एक ही शब्द को, वह किसी एक का अपना नहीं है। सभी उसमें भागीदार, साझीदार हो रहे हैं, लेकिन रस में ऐसा सम्भव नहीं है। जिस पदार्थ का स्वाद आप लेंगे, वह आपका अंगभूत हो जायेगा। आपसे पृथक् नहीं है वह। यानी आश्रय और विषय का इतना निकट का सम्बन्ध है कि वे दो रह ही नहीं जाते। विषय आश्रय में ही अनुप्रविष्ट हो जाता है। ऐसा और किसी इन्द्रिय के व्यापार में नहीं है। तो, कला के ग्रहण में जो तादात्म्य की एक बात आती है, उस तादात्म्य को यदि इन्द्रिय के स्तर पर दिखाना हो, तो रसना से बढ़कर कोई अच्छी उपमा हो ही नहीं सकती। वह जो स्वाद-ग्रहण हुआ, वह हर व्यक्ति का अपना है। हर व्यक्ति का वह अपना अनुभव है, जिसे कि वह किसी के साथ बाँट नहीं रहा है। अन्य सभी इन्द्रियों के व्यापार अन्य लोगों के साथ बाँटे जा सकते हैं।

फिर रसना में एक और बात है कि यही एक ऐसी इन्द्रिय है, जिसमें शेष चारों इन्द्रियों के विषयों का एक साथ अनुभव हो सकता है। और किसी इन्द्रिय में यह सम्भव नहीं है। रसना में शब्द का भी अनुभव होता है, जैसे पापड़ खाने में। उसके कुरकुरेपन का स्पर्श भी होता है। गन्ध और रस का तो बहुत ही निकट सम्बन्ध है, इसीलिए यदि नाट्यशास्त्र में रस शब्द को रसनेन्द्रिय के स्वाद के साथ जोड़ा गया है, तो भाव शब्द को गन्ध के साथ भी जोड़ा है। भाव की व्याख्या में यह कहा है कि *'अनेन भावितं वासितं सर्वम्'*। तो गन्ध का तो कुछ कहना ही नहीं है। रूप की जहाँ तक बात है, रूप से भी बहुत कुछ रस का सम्बन्ध है। जिसका हम रस-ग्रहण करेंगे, उसका रूप तो देखेंगे ही। इस प्रकार यदि पाँचों इन्द्रियाँ कहीं आकर एक साथ अपना व्यापार कर सकती हैं, तो वह रसना में ही सम्भव है। मुझे लगता है कि यह उपमा, यह सादृश्य, यह दृष्टान्त, जो स्वाद का लिया, वह कलागत मर्म की आस्वाद्यता बताने के लिए है। कहा ही है—*'आस्वाद्यत्वात्'*। क्योंकि यह आस्वाद्य है, इसलिए हम इसको रस कह रहे हैं। अगर हम इन्द्रिय-जगत् की इसमें कोई उपमा देना चाहते हैं, तो वह आस्वादनव्यापार की है, यदि कोई व्यापार है तो। कला में से आनन्दग्रहण का जो व्यापार है, यदि कोई प्रक्रिया है, तो उसकी हम रसनेन्द्रिय द्वारा जो आस्वादनप्रक्रिया है, उससे तुलना करना चाहते हैं। उसकी उपमा देना चाहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जो प्रस्तोता है, उसकी दृष्टि से भी सोचें तो उसको क्या करना है? आपके सामने रस परोसना है यानी क्या करना है? यानी यह संयोग करना है उसको। ऐसा कुछ करना है कि जिसको हम जीवन में कारण और कार्य कहते हैं, वे इकट्ठे हो जाएँ। कारण-कार्य को ही हम कला में आकर विभाव और अनुभाव कहने लगते हैं। क्यों कहने लगते हैं? जीवन में हम कहते हैं कि इस कारण से इस आदमी को क्रोध आ गया। क्रोध एक भाव है, यह कारण हुआ, किसी ने आकर ऐसी कुछ बात कह दी कि इसको क्रोध आ गया। कारण है, कार्य हो गया, क्रोध आ गया। लेकिन कला में जाकर हम कारण नहीं कहते, उसको विभाव कहते हैं। क्यों? इसलिए कि जीवन में तो यह अपने आप घटित हो रहा है। और कला में तो हम घटित करवा रहे हैं। कारण को इसलिए उपस्थित कर रहे हैं कि उसका सम्बन्ध हमें उस भाव से जोड़ कर सामाजिक तक संप्रेषण करना है। इसलिए उसको वहाँ कारण कहना बिल्कुल जरूरी नहीं है और उचित भी नहीं है। वहाँ तो वह भी भावात्मक है। यानी जो कारण है, वह भी क्योंकि भावात्मक है, इसलिए हम उसको विभाव कहेंगे। जो कार्य है, क्रोध होने पर आदमी क्या करता है, किस प्रकार की क्रियाएँ करता है, वह जो कुछ हम दिखाएँगे, वह भी कार्य नहीं है, वह भी वहाँ अनुभाव है, भाव के कारण यह ऐसा कर रहा है। यानी हर बात के केन्द्र में भाव है और उस भाव को आस्वादनयोग्य बनाना है, जब वह बन जाय, उस भाव का जब आस्वादन हो जाय, तो वही रस है। रस कोई अलग पदार्थ तो है नहीं। जैसे कि जो कुछ पदार्थ हम खाते हैं, उसी में तो उसका स्वाद निहित है। यह कोई नहीं कह सकता कि इसमें से इसका स्वाद अलग करके रख दो, और पदार्थ हमें नहीं चाहिए। यह कैसे सम्भव है? स्वाद चाहिए, तो पदार्थ तो लेना ही पड़ेगा।

कला में आकर, नाट्य में आकर आखिर हम करना क्या चाहते हैं? यह भी नाट्यशास्त्र ने बताया कि नाट्य के द्वारा हम क्या करना चाहते हैं। पहले ही अध्याय में बताया कि हम लोकवृत्त का अनुकरण करना चाहते हैं। लोक का मतलब प्रमुख रूप से मनुष्य समुदाय, समग्र जीवन है। जिसको हम आज यथार्थ कहते हैं, उसी को ये लोग लोक कहते थे, कम-से-कम इस प्रसंग में। वैसे तो *'लोक्यते इति लोकः'* जो भी इन्द्रियग्राह्य है, वह सब लोक है। जीवन के अनेक स्तरों का नाम भी लोक है, पर जब कला के प्रसंग में हम कहते हैं कि यह लोक है, यह नाट्य है तो लोक यानी जो हमारा जीवन है। तो उन्होंने कहा कि लोकवृत्त, लोक का जो वृत्त है यानी जो आचरण है, चरित है जो लोक का, उसका हम यहाँ नाट्य में अनुकरण करेंगे। क्यों अनुकरण करेंगे? किसलिए? अनुकरण का मतलब 'इमीटेशन' नहीं है, बल्कि फिर से एक बार करना। (द्र० अनु० १ ट) 'री-क्रिएशन' कह सकते हैं। 'इमीटेशन' में तो एक अयथार्थ का भाव है, वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुकरण शब्द में अन्वित नहीं है। अनुकरण तो न झूठा है और न सच्चा है। लोक की दृष्टि से जिसे हम झूठा-सच्चा कहते हैं, उस दृष्टि से वह न झूठा है और न सच्चा है। दोनों ही कसौटी उसको लागू नहीं होंगी। यही बात है कि जिसको वैष्णव-शास्त्रों में योगमाया कहा है। लीला की बात जहाँ आती है, तो वह लीला भी कैसे होती है? परमसत्ता के प्रसंगमें जिसको हम लीला कहते हैं, कला के प्रसंग में उसी को हम नाट्य कहते हैं। तो लीला क्या है? श्रीमद्भागवत में कहा ही है—

भगवानपि ता रात्रीः शरदुत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(द्र० अनु० १ झ)

जब रमण की इच्छा की, तो योगमाया का आश्रय लिया। लीला जैसे न झूठ है न सच है, वैसे ही नाट्य भी न सच है न झूठ है। तो हम अनुकरण करेंगे। लेकिन किसलिए? तो एक और शब्द हमें दिया नाट्यशास्त्र ने कि ताकि हम लोकवृत्त का 'अनुदर्शन' कर सकें। जीवन को फिर से एक बार देख सकें। हम जीवन जीते तो चले जाते हैं, पर ठहरकर उसको देख कहाँ पाते हैं? जब किसी परिस्थिति में से हम गुजरते चले जाते हैं, जो कि घटित हो रही है हमारे साथ, तो उसको देखने के लिए जो दूरी चाहिए, वह हमारे पास कहाँ होती है? तब पूरा तादात्म्य हमारा रहता है उसके साथ और या फिर तटस्थ हो जाते हैं। यदि कुछ ऐसा घटित हो रहा है, जिसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, तो तटस्थ हो जाते हैं। यदि सम्बन्ध है, तो तादात्म्य कर लेते हैं। सही देखने के लिए यह जरूरी है कि तादात्म्य तो हो, लेकिन उसके साथ-साथ ताटस्थ्य भी हो। इन दोनों का एक साथ सधना जीवन में बहुत मुश्किल होता है। इसीलिए कहा कि लोकवृत्त का जो अनुकरण होगा नाट्य में, उसके द्वारा हम पूरे, समूचे लोक का अनुदर्शन करेंगे। फिर से उसको हम एक बार देख सकेंगे। वैसे ही एक और शब्द दिया नाट्यशास्त्र ने पहले अध्याय में हमें—अनुकीर्तन।

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।

(द्र० अनु० १ ञ)

अनुकीर्तन करेंगे। तो यदि हम कवि की दृष्टि से देखें, उसका जो काम है, वह लोक का अनुकीर्तन करना है। जीवन के बारे में वह फिर से कुछ कहता है। यदि सामाजिक की दृष्टि से देखें, तो वह अनुदर्शन करता है। और नट या प्रयोक्ता की दृष्टि से देखें, तो वह अनुकरण कर रहा है।

फिर से लौट कर मैं उसी रस शब्द पर आती हूँ कि रस शब्द का जो ग्रहण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किया गया, उसे आनन्दात्मक मान कर भी, वह इसलिए किया गया ताकि इन्द्रिय के स्तर पर जो आस्वादन व्यापार है, उसके साथ कुछ सम्बन्ध जुड़ सके और उसके साथ सम्बन्ध जोड़ने से ही यह बात बनती है कि संयोग को समझा जा सके और तादात्म्य को भी समझा जा सके। इन्द्रियजगत् में तादात्म्य को समझने के लिए रस से बढ़कर कोई अच्छा उदाहरण नहीं है, आश्रय-विषय के तादात्म्य को समझने का, संयोग को समझने का, उसकी प्रक्रिया की जटिलता को समझने का और उसमें से जो एक नवीन निष्पत्ति होती है, उसको समझने का। संयोग करने से ऐसा कुछ बनता है, जो कि सब कुछ का जोड़ मात्र नहीं है, बल्कि कुछ सर्वथा नवीन है। जिसमें वह सब कुछ है, लेकिन उस सब कुछ के संयोग से कुछ ऐसा बना है, कि जो उन सब को गणित से जोड़ने से नहीं बनेगा। यहाँ कलात्मक ढंग से जोड़ा है। इसी संयोग के कारण वह सम्भव हुआ है। कलागत जो आनन्दग्रहण है, उसकी प्रक्रिया को बताने में रस शब्द जितना सहायक है, उतना दूसरा कोई शब्द शायद नहीं लगा होगा आचार्यों को, इसीलिए इस रस शब्द को ही ग्रहण किया और आनन्दात्मक तो उसे कह ही दिया है। जब भोजन की, रसना की बात की है, तो *'आस्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति'*। अच्छा भोजन करके खुशी भी होती है। तथा *'नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावाना-स्वादायन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः'*। वहाँ भी सुमनसः कह दिया है। इसलिए नाट्य का रस कहा है। आनन्द शब्द नाट्यशास्त्र ने एक बार भी नहीं लिया है। क्योंकि वह तो रस में अन्वित ही है। रस होगा तो आनन्द तो होगा ही, लेकिन आनन्द शब्द को लेकर प्रक्रिया की बात करना, इस सारे व्यापार की बात करना शायद उतना प्रभावशाली नहीं होता या सम्भव नहीं होता। इसलिए इन दो शब्दों में से रस को लेकर आनन्द को उसमें अन्वित मान लिया है, ऐसा मुझे लगता है।

नाट्यशास्त्र की एक और बात की ओर आपका ध्यान दिलाऊँ। पहले ही अध्याय में उसमें एक प्रसंग आया है। यह कहा कि जब पहला-पहला नाट्य प्रयोग किया गया भरत के द्वारा अपने पुत्रों को लेकर, तो सारे देवता बैठे देख रहे थे। सब बड़े प्रसन्न हुए, और सबने कुछ-कुछ दिया, जैसे प्रसन्न होकर प्रयोक्ता को कुछ इनाम हम लोग भी देते हैं। (द्र० अनु० १ ठ) बड़े ही आश्चर्य की बात है कि रस इसमें किसने दिया? कहा कि इन्द्र ने इन्द्रध्वज दे दिया। ब्रह्मा ने विदूषक वाला टेढ़ा डण्डा दिया। वरुण ने भृंगार (लोटा) दे दिया। सूर्य ने छत्र दे दिया। यह सब समझ में आता है। शिव ने नाट्य-प्रयोग की सफलता यानी सिद्धि प्रदान की। वायु ने व्यजन दिया। विष्णु ने सिंहासन, कुबेर ने मुकुट, सरस्वती ने श्रव्यता दी। देवगन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पन्नग, इन्होंने क्या दिया? एक तो भाषित, जिसको अभिनवगुप्त ने कहा कि वाचिक की शिक्षा दी। सरस्वती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ने प्रयोग को श्रव्य बना दिया, यह तो ठीक है, लेकिन बैठ कर सिखाएँगी नहीं सरस्वती। देवगन्धर्वों ने वह भाषित सिखाया और यक्ष, राक्षस, पन्नग ये रस की शिक्षा दे रहे हैं। भाव, रस, रूप और बल ये चारों इन्हीं सबने, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पन्नग ने दिये। सोचते-सोचते ध्यान गया कि वह जो शिव-संकल्प सूक्त है, यजुर्वेद का, *'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'*, उसमें एक मन्त्र में आया है—*'यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम्, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'*। (द्र० अनु० १ ड) मन को उसमें यक्ष कहा गया है। जो सब प्रजाओं के अन्तस् में यक्ष बन कर बैठा है, वह मेरा मन शिवसंकल्प बने। यह तो सारा चित्तवृत्ति का व्यापार है, यह भाव और रस। रूप और बल के लिए तो अभिनवगुप्त ने यह बता दिया है कि रूप का अर्थ शायद मुखराग है, क्योंकि अभिनय में चेहरे का रंग भी बदलना चाहिए और बल का मतलब आंगिक में जो बल चाहिए, वह है। और यह भी कहा कि बीभत्सादि के लिए जो उपकरण चाहिए, उन्हें ये राक्षस आदि ही दे सकते हैं। यह अभिनवगुप्त का कहना है, मुझे कोई बहुत समझ में नहीं आया। ऐसा लगता है कि यह यक्ष की बात जो शिवसंकल्पसूक्त में मिल गयी, वह बहुत काम की है। और फिर ये सब गुह्यक हैं। छिपकर काम करते हैं। सीधे नहीं करते, और मन के व्यापार में एक गुह्यता तो है ही क्योंकि हम मन के व्यापार को लेकर चल रहे हैं, इसलिए शायद इस गुह्यता की ओर इंगित करने का आशय हो। यह गुह्य तो है ही, हमारे जीवन में मन से अधिक गुह्य और क्या है? मन की गति को स्वयं हम भी नहीं समझते, दूसरा तो क्या समझेगा? तो इसलिए ये पन्नग, जो धरती में बिल बना के रहते हैं, राक्षस हैं, छिपके वार करते हैं, यक्ष है सबके भीतर मन बनके छिपा हुआ है, तो इन सभी का एक दल बना दिया है और इनको सौंप दिया है यह सारा सिखाने का काम।

नाट्यशास्त्र का यह प्रतिपादन मुझे बड़ा रोचक लगा। जब पहली बार इसको देखा तो मुझे लगा कि यह क्या है? कोई देवता नहीं बचे थे रस सिखाने को? फिर वह भी ध्यान आया कि नाट्यशास्त्र में पहले ही देवों ने कहा है कि हम इस नाट्य-कर्म के लिए अयोग्य हैं। क्योंकि ब्रह्मा ने तो यही कहा था कि मैंने बना दिया है नाट्यवेद, अब तुम लोग प्रयोग करो। तो तुरन्त इन्द्र हाथ जोड़कर खड़े हो गये, 'महाराज हमसे नहीं होगा'। उन्होंने कहा कि ग्रहण, धारण और प्रयोग में हम असमर्थ हैं। किसी भी काम को करने के यही सोपान होते हैं। पहले हम गुरु या प्रयोक्ता से ग्रहण करें किसी बात को। फिर उसको धारण करें अपने भीतर और फिर उसका प्रयोग करें। हर कला में हम यही करते हैं। गुरु ने कोई चीज गाई तो हमने पहले उसको ग्रहण किया। फिर अपने भीतर धारण न करें, तो प्रयोग नहीं कर सकते। तो उन्होंने कहा कि हम तो ये तीनों ही काम नहीं कर सकते, महाराज। कहा कि *'देवा अशक्ता नाट्यकर्मणि'*। (द्र० अनु० १ ढ) ये जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुनि है, 'कुशला, विदग्धा, जितश्रमा:'। उनके ये विशेषण दिये हैं।—व्रती है, एक अनुशासन में है। विदग्ध शब्द का यदि हम शब्दार्थ करें, तो अच्छी तरह जला हुआ। तो, जलने का मतलब यही है कि अनुभवों की अग्नि में तपा हुआ। यहाँ अभिनवगुप्तपाद ने तो केवल एक वाक्य में टीका की है कि देव जो हैं, वे सुख-भूयिष्ठ हैं, इसलिए वे नाट्य-कर्म नहीं कर सकते। अभिनय नहीं कर सकते। उसके लिए दुःख में से जला हुआ प्रयोक्ता होना चाहिए। क्योंकि लोक की तो एक शब्द में व्याख्या की है कि लोक जो है, वह 'सुख-दुःखसमन्वित' है। लोक में सुख भी है और दुःख भी है। लेकिन अगर कोई दुःख में से नहीं निकला है, तो वह कला का प्रयोग नहीं कर सकता। तो मैं यह कह रही थी कि वहाँ जैसे देवों ने अपने को अयोग्य बताया, वैसे यहाँ भी किसी देव से रस की शिक्षा नहीं दिलाई। जिनको हम सामान्य रूप से निम्नकोटि के मानते हैं, जो छिपकर रहते हैं, गुह्यक जिनकी एक सामान्य संज्ञा है, उनको सौंप दिया है, यह सारा कार्य। रस के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र की यह एक स्थापना है, जिसकी ओर ध्यान दिलाना चाहती थी।

रस का नाम पहली बार जो आता है नाट्यशास्त्र में पहले ही अध्याय में, वह इस प्रकार कि नाट्य के चार प्रमुख अंग हैं—पाठ्य का ऋग्वेद से, गीत का सामवेद से, अभिनय का यजुर्वेद से और रस का अथर्व से ग्रहण किया गया है। क्योंकि यह कहा है कि ब्रह्मा ने '*सस्मार चतुरो वेदा:*', चारों वेदों का स्मरण किया और उन्हीं में से कुछ-कुछ तत्त्व लेकर पांचवां वेद बना दिया नाट्य का। (द्र० अनु० १ ण) रस का अथर्व से ग्रहण किया। हम जानते हैं कि वेद को जब हम त्रयी कहते हैं, तो अथर्व उसमें नहीं आता। तब अथर्व बाहर रह जाता है उससे। जब चार वेद कहते हैं, तब अथर्व आ जाता है। यह बात तो शास्त्रों में बहुत बार मिलती है कि किसी भी तत्त्व का जब निरूपण होता है तो वह तीन में भी होता है और चार में भी। अभिनय चार भी कहे हैं और तीन भी कहे हैं। आंगिक वाचिक, सात्विक अभिनय की त्रयी है और आहार्य को जोड़ देने से चार प्रकार का अभिनय होता है।

अथर्व के साथ ही रस को क्यों जोड़ा है, यह भी थोड़ी-सी समझ लेने की बात है। मुझे ऐसा लगता है कि अथर्व भले ही त्रयी के बाहर है, किन्तु नियन्ता है यानी कहीं भूल-चूक हुई है, तो क्या करें, इसका सारा नियन्त्रण अथर्व में से ही मिलता है। किसी भी वेद के प्रसंग में कोई भूल-चूक हुई है, तो प्रायश्चित्त का विधान अथर्व में ही है। और अथर्व का सम्बन्ध भी पुनः मन के वशीकरण, उच्चाटनादि से जोड़ा जाता है। इसलिए मन के साथ भी उसका सीधा सम्बन्ध है। और नियामक, जैसे कि कला जगत् में 'हम क्या करें और क्या न करें, क्या उचित है और क्या अनुचित है' इस सारे का एकमात्र नियन्ता यदि कोई है, तो वह रस ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। कोई बात अगर अनुचित है, तो वह इसलिए अनुचित है, क्योंकि उससे रस-भंग हो रहा है। उचित है तो इसलिए उचित है कि वह रस को पुष्ट करती है। तो जैसे उचित-अनुचित, भले-बुरे का निर्णय कलाशास्त्र में रस के आधार पर ही किया गया है, वैसे ही वेद में भी अथर्व को क्योंकि वह स्थान प्राप्त है, अतः अथर्व के साथ यहाँ रस का सम्बन्ध जोड़ा गया है।

आज हमने केवल इतना देखने की कोशिश की कि रस का मूल यदि उपनिषद् में है, जो कि सचमुच है, तो क्या बात है कि उपनिषद् में आनन्द शब्द बहुत अधिक बार आया है, रस शब्द की अपेक्षा। रस शब्द बहुत कम बार आया है। किन्तु नाट्यशास्त्र, जो कि सारे वेद की धारा को, उसमें कुछ-कुछ आगम धारा को भी लेते हुए, पूरा एक प्रकार से वेद को पुष्ट करता है और एक पूरा कला का शास्त्र खड़ा करता है वैदिक धारा के आधार पर, वह रस शब्द को ही लेकर आगे बढ़ता है, आनन्द शब्द को उसमें अन्वित मान लेता है। उसका पृथक् उच्चारण आवश्यक ही नहीं मानता। रस शब्द में ऐसी क्या विलक्षणता है, इस पर मैंने कुछ कहने की कोशिश की। मैंने पहले ही कहा था कि मैं बहुत बड़े-बड़े आचार्यों का इसमें कुछ उल्लेख नहीं करूँगी। बहुत कम, मैंने केवल दो एक बार अभिनवगुप्तपाद का उल्लेख किया है, क्योंकि उससे तो बचा ही नहीं जा सकता। फिर भी अधिक न किया है और न आगे भी करूँगी। स्वयं मुझे जो कुछ थोड़ा-बहुत सोचने का अवसर मिला है, उसी को बहुत संक्षेप में सार आप लोगों के सामने रखने की कोशिश की।

अनुबन्ध

(क) रस और आनन्द सम्बन्धी उपनिषद् वचन

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति॥ को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्॥ यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

(तैत्तिरीयोपनिषत् २.७)

वह रस है। रस को प्राप्त करके यह (पुरुष) आनन्दी (आनन्दवान्) होता है। यदि यह आकाश आनन्द न हो तो कौन साँस ले (जीवित रहे), कौन प्राणवान् हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

टिप्पणी : यहाँ 'सः' के रूप में पुल्लिग का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। यदि 'ब्रह्म' के लिए इस सर्वनाम का प्रयोग होता तो नपुसकलिंग का प्रयोग होता। साथ ही, आनन्द का आकाश के साथ तादात्म्य भी मननीय है।

(ख) उपनिषद् में 'काम' का अधिष्ठान

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेय···

आत्मा ही पहले एक था। उसने 'काम' किया कि मेरे पत्नी हो और मैं प्रजा उत्पन्न करूँ। (यहाँ भी पुल्लिग का ही प्रयोग है, नपुंसकलिंग 'ब्रह्म' का नहीं)।

(ग) रस की आनन्दात्मकता

तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः। स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। तथा हि एकधनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिरन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् (सुखस्य)। अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम्। तत एव कापिलैर्दुःखस्य चाञ्चल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तितां वदद्भिरित्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्।

(ना० शा० ६, अभिनवभारती, पृ० २८२)

ये सभी (रस) सुखप्रधान हैं। स्वसंवित् का 'चर्वण' रूप जो एकघन प्रकाश है, वह आनन्दसार है अर्थात् उसका सार आनन्द ही है, अतः सभी रसों में वह प्रकाश समान रूप से होने के कारण सभी आनन्दात्मक हैं। लोक में दिखाई देता है कि एकघन शोकसंवित् के चर्वण में भी स्त्रीजनों की हृदय-विश्रान्ति होती है। और अन्तराय (विघ्न) रहित विश्रान्ति ही सुख या आनन्द का शरीर है। और अविश्रान्तिरूपता ही दुःख है। इसीलिए कापिलों (सांख्यदर्शनकारों) ने रजोगुण की वृत्ति वताते हुए चंचलता को ही दुःख का प्राण कहा है। इसलिए सव रस आनन्दरूप हैं।

इस अंश का तात्पर्य यह है कि 'स्वसंवित्' का 'चर्वण' प्रकाशमय है अर्थात् रस में किसी वाह्य तत्त्व का नहीं, स्वसंवित् का ही चर्वण होता है और उसका प्रकाशमय होना स्वभाव-सिद्ध है। प्रकाश और आनन्द का तादात्म्य-सम्वन्ध है। शोकसंवित् के चर्वण में स्त्रीजनों का विशेष स्मरण किया है। हृदय-विश्रान्ति को ही आनन्द का मूल वताया है और अविश्रान्ति या चंचलता को दुःख का मूल। रस कोई भी हो, उसमें स्वसंवित् के चर्वण से जनित विश्रान्ति होगी ही, अतः उसका आनन्दात्मक होना स्वाभाविक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(घ) रस और भाव को लेकर वृक्ष का रूपक

यथा वीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेषु भावा व्यवस्थिताः ।।

(ना० शा० ६,३८)

तदेवं मूलं वीजस्थानीयः कविगतो रसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव।··· ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः।

(अभिनवभारती)

जैसे वीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से पुष्प और फल होते हैं, वैसे ही रस मूल है और सब भाव उन्हीं (रसों) में व्यवस्थित हैं।

(मूल में) कविगत रस मूल यानी वीज-स्थानीय है। कवि सामाजिक के तुल्य ही है। उस वीज से फिर वृक्षस्थानीय काव्य होता है। उस काव्यरूपी वृक्ष में पुष्पादि-स्थानीय है अभिनयादि नट का व्यापार। और फल-स्थानीय है सामाजिक का रसास्वाद।

(ङ) श्रीमद्भागवत में 'आदिकवि' ब्रह्मा

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।।

(श्रीमद्भागवत १.१.१)

जिससे इस (जगत्) का जन्म आदि (सृष्टि, स्थिति, प्रलय) होता है, (और यह वात) अन्वय और उससे इतर (अर्थात् व्यतिरेक) से (सिद्ध है) अर्थात् जन्मादि उससे है, यह अन्वय है, और उसके विना नहीं है, यह व्यतिरेक है, जो 'अर्थों' (पदार्थों) में 'अभिज्ञ' और 'स्वराट्' अर्थात् स्वतन्त्र अथवा स्वयंप्रकाश है, जिसने (अपने) 'हृत्' अर्थात् संकल्प से ब्रह्म (परमतत्त्व) का 'तनन' (ज्ञानात्मक विस्तार अर्थात् वेद) 'आदिकवि' अर्थात् ब्रह्मा के लिए किया है अर्थात् वेदज्ञान ब्रह्मा को दिया है, जिस (ज्ञान) के सम्बन्ध में सूरिगण (विद्वान्) भी मोहग्रस्त हो जाते हैं; जैसे तेज, वारि और मृत् (पृथ्वी) का 'विनिमय' अर्थात् एक का दूसरे में भ्रम (तेज में जल का, जल में पृथ्वी का और पृथ्वी में जल आदि का भ्रम) होता है, (वैसे ही) जिसमें त्रिसर्ग (त्रिगुणात्मिका जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूपा सृष्टि) मिथ्या होने पर भी अधिष्ठान-सत्ता से सत्यवत् प्रतीत हो रही है, उस अपनी स्वयं-प्रकाश ज्योति (धाम) से जिन्होंने सदा 'कुहक' (माया) को निरस्त कर रखा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, उस परम सत्य का हम ध्यान करते हैं।

(च) आदिकवि के शोक की श्लोक में परिणति

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥
(ध्वन्यालोक १.५)

क्रौंचस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसनेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद् विप्रलम्भशृंगारोचितरतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभाव-तदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवाद-तन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवच्चित्तवृत्ति-निःष्यन्द-स्वभाव-वाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृतकतयैवावेशवशात् समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादि-नियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः।
मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥
न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम्। एवं हि सति तद्दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाशं भवेत् न च दुःखसन्तप्तस्यैषा दशेति। एवं चर्वणोचित-शोक-स्थायिभावात्मकरुणरससमुच्छलनस्वभावत्वात् स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशब्द-वैलक्षण्यकारकः।
एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे यावत् पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्।

काव्य का आत्मा वही (प्रतीपमान या व्यंग्य) अर्थ है, जैसे कि पुरा (पूर्व) काल में क्रौंच पक्षी के जोड़े के वियोग से उत्थित शोक आदिकवि का श्लोक बन गया।

क्रौंच के द्वन्द्ववियोग (जोड़े के बिछुड़ जाने) से अर्थात् सहचरी क्रौंची के मारे जाने से, साहचर्य (संग-साथ) का ध्वंस हो जाने के कारण उत्पन्न जो शोकरूप स्थायिभाव है (वह) निरपेक्ष (मिलन की आशा से रहित) भाव होने के कारण विप्रलम्भ शृंगार (जहाँ मिलन की आशा रहती है) के उचित रतिरूप स्थायिभाव से अतिरिक्त (भिन्न) ही है। वही (शोक) उस प्रकार के विभाव और उससे उत्पन्न आक्रन्द (रोना-चिल्लाना) आदि अनुभाव की चर्वणा द्वारा, हृदय के संवाद और फिर तन्मयीभाव के क्रम से आस्वाद्यमान अवस्था को प्राप्त लौकिक शोक के अतिरिक्त, चर्वयिता के अपने चित्त की द्रुति (पिघलने) के द्वारा समास्वाद्य-सार करुणरस-रूपता को प्राप्त, जैसे जल से भरा घड़ा छलकता है और जैसे चित्तवृत्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के निष्यन्द (वहाव या रिसने) के रूप में वाग्विलाप आदि होते हैं, उसी प्रकार 'समय' (शब्द के संकेत या मुख्यार्थ या वाच्यार्थ) की अपेक्षा न रखने पर भी (वचन) 'चित्तवृत्ति के व्यंजक होते हैं' इस न्याय से अकृत्रिम (सहज, स्वाभाविक) रूप से ही आवेश के कारण, समुचित शब्द, छन्द, वृत्त आदि से नियन्त्रित हुआ 'श्लोक' रूपता को प्राप्त हुआ (या होता है)।

'हे व्याध ! काम से मोहित क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक को तू ने मार डाला है। इसलिए अनन्तकाल तक तू प्रतिष्ठा (शान्ति) को प्राप्त न हो।'

(इस प्रसंग में) मुनि का शोक है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। क्योंकि ऐसा होने पर उस (क्रौंच) के दुःख से वे (मुनि) भी दुःखित हो जाते हैं, फिर रसात्मकता (आनन्दात्मकता) की वात नहीं वनेगी। और फिर, दुःख से जो कोई सन्तप्त हो, उसकी ऐसी दशा (कि शाप देने के लिए श्लोक का निर्माण करे) नहीं होती। इस प्रकार चर्वणा के योग्य शोक-रूप स्थायिभाव वाले करुणरस के छलकने के स्वभाव के कारण वही (प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ) काव्य का आत्मा अर्थात् सार-भूतस्वभाव है एवं दूसरे शाब्द-वोध से वैलक्षण्य करने वाला है।

'हृदयदर्पण' में इसी (वात) को कहा है—'जब तक (कवि) इस (रस) से भर नहीं जाता, तव तक इसका 'वमन' (उद्गिरण, वाहर प्रकटन) नहीं ही करता।'

इस सारे अंश का तात्पर्य इस प्रकार है—

१. स्थायिभाव का 'चर्वण' व्यापार ही 'रस' के अनुभव में पर्यवसित होता है।
२. स्थायिभाव ही आस्वाद्यमान होकर रस-रूप वनता है। इस आस्वादन-व्यापार में सहृदय के चित्त की द्रुति (शृंगार-करुण-शान्त रसों में) और दीप्ति (वीर-रौद्र-वीभत्स रसों में) माध्यम वनती है।
३. 'रस' जव छलकता है तव काव्य फूटता है। विना रस के छलके काव्य स्फूर्त नहीं होता।
४. आदिकवि में लौकिक घटना में से ही विभाव-अनुभाव की चर्वणा, फिर स्थायिभाव का आस्वादन-व्यापार, रस का छलकना और फलस्वरूप काव्य-श्लोक का प्रकट होना—यह जो पूरा क्रम वताया गया है, यह किसी भी कला-सर्जन का क्रम समझा जा सकता है। यही कविगत रस है।

(छ) नाट्यशास्त्र में उल्लिखित 'संयोग'

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः। नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। को दृष्टान्तः। अत्राह—यथा हि नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि—गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। अत्राह रस इति कः पदार्थः। उच्यते आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः। यथा हि नानाव्यंजन-संस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः।

यथा वहुद्रव्ययुतैर्व्यंजनैर्वहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुंजाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥
भावाभिनयसंवद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥

(ना० शा० ६, पृ० ७२, २८७-८८, श्लो० ३२-३३)

पहले हम रसों की व्याख्या करेंगे। रस के विना (नाट्य या कला में) कोई भी 'अर्थ' (कथ्य और रूप) प्रवर्तित नहीं होता।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (भावों) के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है।

यहाँ क्या दृष्टान्त है? यहाँ कहा है—जैसे नाना व्यंजन, औषधि और द्रव्य के संयोग से (रसना में) रसनिष्पत्ति होती है, वैसे ही नाना भावों के उपगम (समीप आने) से नाट्य या कला में रसनिष्पत्ति होती है। जैसे—गुड़ादि द्रव्यों से, व्यंजनों और औषधियों (मसालों) से षाडवादि (कटु, अम्ल, तिक्त, कषाय, क्षार, मधुर) रस निष्पन्न होते हैं, वैसे ही नाना-भावोपगत (नाना भाव जिनके समीप आ गए हैं, (ऐसे) स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं। यहाँ कहा—रस क्या पदार्थ है? वताते हैं—आस्वाद्य होने के कारण। रस का कैसे आस्वादन होता है? जैसे नाना व्यंजनों से 'संस्कृत' अन्न को खाते हुए सुमना पुरुष रसों (मधुरादि) का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त होते हैं, वैसे ही नाना अभिनय से व्यंजित वाक्, अंग (प्राण) और सत्त्व (के कर्म) से उपेत (युक्त) स्थायी भावों का सुमना प्रेक्षक आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त होते हैं। इसलिए नाट्य-'रस' ऐसी व्याख्या की गई है। यहाँ (दो) आनुवंश्य (वंशानुगत) श्लोक हैं।

जैसे वहुद्रव्यों (गुड़ादि) से युक्त वहु व्यंजनों (दधि, कांजी आदि) से अन्वित भक्त (भोजन) का भक्तविद् (भोजन के ज्ञाता या रसिक) आस्वादन करते हैं, वैसे ही भावों के अभिनय से संवद्ध स्थायिभावों का बुध लोग मन से आस्वादन करते हैं। इसीलिए नाट्य-रस कहे गए हैं। (मन से आस्वादन की बात कह कर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानस व्यापार को ही आस्वादन बताया है।)

एतदुक्तं भवति—पाकरूपया सम्यग्योजनया तावदलौकिको रसो जायते। तत्र प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यंजकत्वमिति व्यंजनं विभावस्थानीयम्। चिचाहरिद्राद्यनुभावप्रायम्। द्रव्याणि तु गुडादीनि तदीयचुक्रादिरसविलक्षण-मधुरादियोगाद् व्यभिचारिकल्पम्।

(अभिनवभारती, ना० शा० ६, पृ० २८८)

यह कहा जा रहा है—पाकरूपा सम्यक् योजना से अलौकिक रस उत्पन्न होता है। प्रधान रूप से, जल रसाभिव्यंजक होता है। अतः 'व्यंजन' विभाव-स्थानीय है। चिंचा (इमली) हरिद्रा (हल्दी) आदि (औषधि) अनुभाव के तुल्य हैं। गुडादि द्रव्य तो (औषधियों के) चुक्रादि (खटास आदि) रसों से विलक्षण मधुरादि (रसों) के योग से व्यभिचारि-भावों के तुल्य हैं। (नाट्यरस के प्रसंग में स्थायिभाव को छोड़ कर तीन ही, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी का रस-सूत्र में ग्रहण है, वैसे ही दृष्टान्त में भी व्यंजन, औषधि और द्रव्य तीन का ही ग्रहण है।)

(ज) श्रीमद्भागवत के रस में 'संयोग'

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिवत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

(श्रीमद्भागवत १ १.३)

निगमरूपी कल्पतरु का यह गलित (पूरा पका हुआ) फल है, शुक के मुख से (निकले) अमृतद्रव से यह 'संयुत' है। हे रसिको! हे भावुको! इस भागवत रस का बार-बार इस भूलोक में पान करो। ('आलय' का अर्थ रस का आगार समझ सकते हैं या आ + लय = लय होने तक पान करो ऐसा भी समझ सकते हैं।)

(झ) लीला में 'योगमाया'

भगवानपि ता रात्रीः शरदुत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भागवत १०.२९ १)

भगवान् ने शरद् ऋतु के कारण उत्फुल्ल मल्लिका वाली रात्रियों को देख कर योगमाया का आश्रय लेते हुए रमण की इच्छा की।

(ञ) नाट्यशास्त्र में उल्लिखित अनुकरण, अनुदर्शन और अनुकीर्तन

नानाभावोपसंपन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥

(ना० शा० १.१.१२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्मिन् समवकारे तु प्रयुक्ते देवदानवाः।
हृष्टाः समभवन् सर्वे कर्मभावानुदर्शनात् ।।
(ना० शा० ४.४)

भवतां देवतानां च शुभाशुभविकल्पकः।
कर्मभावान्वयापेक्षी नाट्यवेदो मया कृतः।।
नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।।
(ना० शा० १.१०७)

ब्रह्मा की उक्ति, दैत्यों के प्रति : नानाभावों से उप-संपन्न, नाना अवस्थान्तरात्मक लोकवृत्त का अनुकरण-रूप यह नाट्य मैंने बनाया है।

भरत की उक्ति, मुनियों के प्रति (अमृतमन्थन नामक) उस समवकार का प्रयोग जब किया गया, तो सभी देव और दानव कर्म और भाव के अनुदर्शन से हर्षित हुए।

ब्रह्मा की उक्ति, दैत्यों के प्रति : यह नाट्यवेद मैंने ऐसा बनाया है जो आप लोगों और देवताओं के शुभ, अशुभ (कर्मों के तदनुसारी फल) का विकल्प (विभेद) दिखाने वाला और कर्म-भाव के 'अन्वय' की अपेक्षा रखने वाला है।

यहाँ (नाट्य में) न तो ऐकान्तिक रूप से आप लोगों का, न देवों का अनुभावन (भावों का अनुसरण) है। नाट्य तो इस पूरे त्रैलोक्य का भावानुकीर्तन है।

(नट की दृष्टि से अनुकरण, प्रेक्षक की दृष्टि से अनुदर्शन और कवि की दृष्टि से अनुकीर्तन समझा जा सकता है।)

(ट) अनुकरण की मीमांसा

नन्वेवं तावता नियतानुकारो मा भूत्। अनुकारेण तु किमपराद्धम्। न किञ्चिदसम्भवादृते। अनुकार इति हि सदृशंकरणम्। तत्कस्य। न तावद्रामादेः। तस्याननुकार्यत्वात्। एतेन प्रमदादिविभावानामनुकरणं पराकृतम्। न चित्तवृत्तीनां शोकक्रोधादिरूपाणाम्। न हि नटो रामसदृशं स्वात्मनः शोकं करोति। सर्वथैव तस्य तत्राभावात्। भावे वाऽननुकारत्वात्। न चान्यद् वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृशं स्यात्। अनुभावांस्तु करोति। किन्तु सजातीयानेव। न तु तत्सदृशान्। साधारणरूपस्य कः केन सादृश्यार्थः। त्रैलोक्यवर्तिनः सदृशत्वन्तु न विशेषात्मना यौगपद्येनोपपद्यते। कदाचित् क्रमेण नियत एवानुकृतः स्यात्। सामान्यात्मकत्वे कोऽनुकारार्थः। तस्मादनियतानुकारो नाट्यमित्यपि न भ्रमितव्यम्।
(अभिनवभारती, ना० शा० १, पृ० ३७)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पूर्वपक्ष के अनुसार) नियत (देश, काल, पात्र) का अनुकरण भले ही न माना जाए, किन्तु अनुकरण ने क्या अपराध किया है? (अर्थात् अनियत का तो अनुकरण हो ही सकता है।) और कुछ (अपराध) नहीं, सिवाय असम्भव होने के। अनुकरण का अर्थ होगा सदृश-करण। वह किस का? रामादि का तो नहीं ही। क्योंकि वह (राम) तो अनुकार्य नहीं है। इससे प्रमदादि विभावों का अनुकरण पराकृत हो गया। शोक-क्रोधादि-रूप चित्तवृत्तियों का भी (अनुकरण) नहीं (होता)। नट राम के सदृश अपना शोक नहीं करता। क्योंकि उस (नट) में उस (शोक) का सर्वथा अभाव है। अथवा भाव का अनुकरण (सम्भव) नहीं है। यह भी है कि ऐसी कोई दूसरी वस्तु नहीं है, जो कि शोक के सदृश हो। अनुभावों को तो (नट) करता है। किन्तु सजातीय (अनुभावों) को ही, सदृश को नहीं। जो साधारण (विशेषरहित) है उसका भला किससे सादृश्य होगा? जो त्रैलोक्यवर्ती (साधारण) है, उसका सदृशत्व विशेषात्मा के साथ युगपत् (एक ही काल में) नहीं माना जा सकता। क्रम से (एक के बाद दूसरा) कदाचित् (शायद) नियत का ही अनुकरण हो सके। सामान्यात्मकता जहाँ है, वहाँ अनुकरण कैसा? अतः यह भी भ्रम नहीं रखना चाहिए कि अनियत का अनुकरण नाट्य है। (जैसा नियत का अनुकरण असम्भव है, वैसे ही अनियत का भी समझना चाहिए।)

(ठ) नाट्य के उपकरणों के दाता देवगण तथा गन्धर्व-यक्षादि

ततो ब्रह्मादयो देवाः प्रयोगपरितोषिताः ॥
प्रददुर्मत्सुतेभ्यस्तु सर्वोपकरणानि वै।
प्रीतस्तु प्रथमं शक्रो दत्तवान् स्वं ध्वजं शुभम् ॥
ब्रह्मा कुटिलकं चैव भृंगारं वरुणः शुभम्।
सूर्यश्छत्रं शिवस्सिद्धि वायुर्व्यंजनमेव च ॥
विष्णुः सिंहासनं चैव कुबेरो मकुटं तथा।
श्राव्यत्वं प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती ॥
शेषा ये देवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः।
तस्मिन् सदस्यभिप्रेतान् नानाजातिगुणाश्रयान् (याः) ॥
अंशांशैर्भाषितं भावान् रसान् रूपं बलं तथा।
दत्तवन्तः प्रहृष्टास्ते मत्सुतेभ्यो दिवौकसः ॥

(ना० शा० १, ५८, गद्य-६३)

भारत का वचन, मुनियों के प्रति : तब ब्रह्मादि देवों ने 'प्रयोग' से परितुष्ट होकर मेरे पुत्रों को सब उपकरण दिए। पहले शक्र (इन्द्र) ने प्रीत (प्रसन्न) होकर अपना शुभ ध्वज दिया, ब्रह्मा ने कुटिलक (विदूषक का उपयोगी टेढ़ा डंडा), वरुण ने शुभ भृंगार (टोंटी वाला लोटा), सूर्य ने छत्र, शिव ने सिद्धि, वायु ने व्यंजन,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विष्णु ने सिंहासन, कुबेर ने मुकुट और देवी सरस्वती ने प्रेक्षणीय का 'श्राव्यत्व' (श्रव्य होने का गुण) दिया। शेष जो देव-गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पन्नग थे, जो नाना जाति के गुणों के आश्रय थे, उन्होंने अपने अंशांशों से भाषित (वाचिक अभिनय), भाव, रस, रूप तथा बल दिये। इस प्रकार मेरे पुत्रों को, प्रसन्न होकर देवों ने (ये सब) दिये।

यक्षादयो ये तत्त्वज्ञा नाट्यस्य। भाषितमिति। तद्भूमिकोपयोगि-वाचिके शिक्षा। भावानिति। विभावादिषु। तथा हि रक्तमांसादीनि भयजुगुप्साविभावरूपाणि यक्षरक्षसां हर्षोत्साहविभावतां यान्तीति तदुपदेशादेव तज्ज्ञेयम्। रसानिति। स्वोचितस्थायिभावसम्बध्यमान-तत्तद्रसोपयोगिनोऽनुभावव्यभिचारिवर्गस्य शिक्षा दर्शिता। रूपमिति मुखरागस्य। बलमित्यांगिकस्य।

(अभिनवभारती, ना० शा० १, पृ० २८)

यक्षादि जो नाट्य के तत्त्वज्ञ हैं, (उन्होंने) भाषित अर्थात् उस-उस भूमिका के उपयोगी वाचिक (अभिनय) की शिक्षा (दी)। भाव दिये का अर्थ है विभावादि की शिक्षा दी। रक्त, माँस आदि (सामान्यतः) भय-जुगुप्सा के विभाव-रूप हैं, किन्तु यक्ष-राक्षसों में ये हर्ष उत्साह के विभाव बन जाते हैं, (अतः उनकी शिक्षा) इन्हीं (यक्षादि) से मिल सकती है। रस दिये इसका अर्थ है कि उन-उन रसों के उचित स्थायिभावों से जिनका सम्बन्ध जुड़ता है, उन अनुभाव और व्यभिचारियों की शिक्षा दी। रूप का अर्थ है मुखराग और बल यानी आंगिक (अभिनय)।

(ड) यजुर्वेद का शिव-संकल्प मन्त्र

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम्, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

(शुक्ल यजुर्वेद, माध्यन्दिन संहिता, अ० ३४, मन्त्र २)

अपसः = कर्मनिष्ठ, धीर और मनीषी लोग पदार्थज्ञान (विदथेषु) में (जिसकी सत्ता को आवश्यक मानते हैं), यज्ञ में जिसकी सहायता से विधिवत् कर्मों का सम्पादन करते हैं, जो प्रजाओं (प्राणियों) के अन्तस् में अपूर्व यक्ष (के रूप में स्थित) है, वह मेरा मन शुभ संकल्प से युक्त हो।

अपूर्व = प्रथम, जिसके पूर्व कोई नहीं, इन्द्रियों में प्रथम।

यक्ष = यज्ञादि द्वारा तृप्ति प्राप्त करने वाला। (यष्टुं शक्यम्)

(ढ) देवों की नाट्यकर्म में अयोग्यता

कुशला ये विदग्धाश्च प्रगल्भाश्च जितश्रमाः।
तेष्वयं नाट्यसंज्ञो हि वेदः संक्राम्यतां त्वया॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रहणे धारणे ज्ञाने प्रयोगे चास्य सत्तम।
अशक्ता भगवन् देवा अयोग्या नाट्यकर्मणि ॥
य इमे वेदगुह्यज्ञा ऋषयः संश्रितव्रताः।
एतेऽस्य ग्रहणे शक्ताः प्रयोगे धारणे तथा ॥

(ना० शा० १.२०, २२, २३)

ब्रह्मा का वचन, इन्द्र के प्रति : जो (देव) कुशल हैं, विदग्ध हैं, प्रगल्भ हैं, जितश्रम हैं, उनमें इस नाट्य नामक वेद को तुम्हें संक्रमित करना चाहिए।

इन्द्र का वचन, ब्रह्मा के प्रति : हे भगवन् ! हे सत्तम ! इस (नाट्यवेद) के ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग में देव असमर्थ हैं, (अतः) नाट्यकर्म में वे अयोग्य हैं।

ये ऋषि जो वेद के रहस्य को जानते हैं, जो व्रतधारी हैं, ये इसके ग्रहण, धारण और प्रयोग में समर्थ हैं।

(ण) ब्रह्मा द्वारा चार वेदों का स्मरण और नाट्यवेद के अंगों का ग्रहण

एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च।
सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित् ॥
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेशं ससंग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्।
नाट्याख्यं पंचमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥
एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदांगसम्भवम् ॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

(ना० शा० १, १३-१७)

भरत का वचन, मुनियों के प्रति : (देवताओं) से 'एवमस्तु' ऐसा कहकर और देवराज इन्द्र को छोड़कर तत्त्ववित् (ब्रह्मा) ने चारों वेदों का स्मरण किया। "नाट्य-संज्ञक और इतिहास-युक्त ऐसे पंचम वेद का निर्माण मैं कर रहा हूँ, जो कि धर्म, अर्थ, यश से युक्त, उपदेश (शिक्षण) और संग्रह से समन्वित, भविष्य-कालीन 'लोक' के सर्वकर्मों का अनुदर्शक, सर्वशास्त्रार्थसंपन्न और सर्वशिल्पप्रवर्तक है।" ऐसा संकल्प करके भगवान् (ब्रह्मा) ने सब वेदों का अनुस्मरण करते हुए तब फिर नाट्यवेद बनाया, जिसका कि उद्‌भव सब वेदों के अंगों से हुआ। ऋग्वेद से पाठ्य का, सामों (वेदमय गीतियों) से गीत का, यजुर्वेद से अभिनयों का और अथर्व (वेद) से रसों का ग्रहण किया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२

रस-सिद्धान्त की शाखाएँ—रस का विनियोग, विभिन्न कलाओं में

आज जो हम शाखाओं का दर्शन करने वाले हैं, इसमें भी पहले नाट्यशास्त्र को ही मैं देखना चाहती हूँ, इसलिए कि हमने कल तो केवल यह देखा कि नाट्यशास्त्र ने रस के सिद्धान्त को या रस की प्रक्रिया को किस प्रकार समझाया है, किन शब्दों में, किन दृष्टान्तों को लेकर समझाया है। किन्तु फिर उसका विनियोग जो किया है यानी अभिनय के जो प्रकार वताए हैं या गीत पर जो वात हुई है या पाठ्य की जो वात हुई है (क्योंकि रस को छोड़ कर नाट्य के तीन अंग वचते हैं, पाठ्य, गीत और अभिनय) इन तीनों के प्रसंग में नाट्यशास्त्र ने जो विनियोग वताया है, वह पूरा का पूरा रसाधारित है। इस पर पहले थोड़ी-सी चर्चा करूँगी, संगीत को मैं जरा वाद में लूँगी, क्योंकि संगीत में कुछ अधिक कहने को होगा, दो कारणों से : एक तो इसलिए कि मैं स्वयं संगीत की विद्यार्थिनी हूँ, संगीत के माध्यम से ही रस को पढ़ाती रही हूँ और दूसरे इसलिए कि आज के हमारे अध्यक्ष हमारे माननीय भाई जी (पं० विनयचन्द्र मौदगल्य) हैं, तो उनके सामने भी मुझे संगीत पर कुछ विशेष कहने की इच्छा होती है, इसलिए संगीत के वारे में तो नाट्यशास्त्र की वात और वाद की सारी-की-सारी वात मैं वाद में ले लूँगी। पहले पाठ्य और अभिनय की वात ले लेती हूँ कि नाट्यशास्त्र में जो भी निरूपण पाठ्य का है या अभिनय का है, चाहे वह आंगिक अभिनय हो या वाचिक अभिनय हो, सात्त्विक की तो कोई कहने की वात ही नहीं है, उसमें किस प्रकार रस को ही केन्द्र में रखा गया है। सात्त्विक में तो वह भाव और रस को लेकर ही चलेगा, उसमें तो कुछ कहने का सवाल ही नहीं है, किन्तु आंगिक वाचिक दोनों में किस प्रकार रसाधारित विनियोग ही नाट्यशास्त्र में वताया गया है और एकमात्र कसौटी यही दी है कि जो कुछ करो, वह रस के अनुकूल करो, इस पर थोड़ा-सा कुछ निवेदन करके तब फिर मैं शिल्प, स्थापत्य या वास्तु जिसे कहें, उसकी थोड़ी-सी चर्चा करूँगी और साहित्य की,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काव्य की थोड़ी-सी चर्चा करूँगी और तब संगीत पर आ जाऊँगी; उसी पर मुझे विशेष कहना चाहिए आज के इस सन्दर्भ में।

वाचिक से शुरू करती हूँ। नाट्यशास्त्र में वाचिक अभिनय के अन्तर्गत छन्द का निरूपण हुआ, अलंकार, गुण-दोष और लक्षण (३६ लक्षण जो कहे हैं) का निरूपण हुआ है। इनमें जब छन्दों का, लक्षणों का और अलंकारों का निरूपण कर चुकते हैं, तब भरत मुनि कहते हैं कि यह सब जो हमने कहा, अब इसका क्या करना है, कैसे इसका विनियोग होगा, तब कहते हैं :

एवमेते ह्यलंकारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः।

(द्र० अनु० २ क)

यह सब कुछ मैंने कह दिया,

प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम् ॥

अब इनका प्रयोग हम बताएँगे, जो कि रस पर आश्रित है। यहाँ पहले छन्द की बात है, छन्द में लघु-गुरु अक्षरों का भिन्न-भिन प्रकार का विन्यास है, क्योंकि नाट्यशास्त्र में अधिकांश रूप से आर्या को छोड़के बाकी सभी वार्णिक छन्दों का ही, जिनको वृत्त भी कहते हैं हम लोग, निरूपण हुआ है। तो इसलिए लघ्वक्षरप्रधान रचना कहां रखी जाए, गुर्वक्षरप्रधान रचना किस रस के प्रसंग में रखी जाए, यह संक्षेप में कह देते हैं। फिर अन्त में हमेशा ही नाट्यशास्त्र में मुनि छूट दे देते हैं, वे कभी बाँधते नहीं हैं। वे आपको एक प्रकार से मार्ग दिखाकर और फिर छूट दे देते हैं कि भाई अब जो कुछ तुम्हारी समझ में आये, वह करो, लेकिन ऐसा करो, जो रस के विपरीत न हो, रस के अनुकूल हो। वे कहते हैं :

लघ्वक्षरप्रायकृतम् उपमारूपकाश्रयम्। काव्यं कार्यं तु नाट्यज्ञै वीररौद्राद्भुताश्रयम्।

वीर, रौद्र और अदभुत रस का यदि प्रसंग हो, तो लघ्वक्षरप्रधान रचना करना।

गुर्वक्षरप्रायकृतं वीभत्से करुणे तथा,

वीभत्स और करुण के प्रसंग में गुर्वक्षरप्रधान रचना करना।

यह सारा का सारा विधान है, मैं सोचती हूँ कि इसको पूरा पढ़ने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन मैं निवेदन इतना ही करना चाहती हूँ कि जब ये छन्द की, अलंकार की, गुण-दोष की सारी चर्चा कर चुके, वाचिक के विनियोग के प्रसंग में, तब फिर इतना ही अन्त में कह दिया कि :

ह्रस्वदीर्घप्लुतानीह यथाभावं यथारसम्।

यथाभाव, यथारस इन ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत का प्रयोग करना।

काव्यबन्धेष्वशेषेषु ह्यक्षराणि प्रयोजयेत् ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काव्यवन्ध तो अशेष हैं, कहां-कहां तक क्या वताएँ, केवल यथारस करना इतना कह दिया है, अर्थात् चाहे वह अक्षरवन्ध है, पदवन्ध है या फिर वह पाठ्य में काकु का प्रयोग है, उसके विनियोग का आधार रस ही है। अब मैं पाठ्य को ले लूँगी इसके वाद ही। इस सारे-के-सारे प्रयोग को, वाचिक के प्रयोग को, अभिनय को नाट्यशास्त्र ने रसाधारित करके देखा है। इसके वाद हम आंगिक की वात करेंगे।

अव पाठ्य के (१७वें) अध्याय में, जिसका नाम 'काकुस्वरव्यंजनम्' है, उसमें पहले स्वर कहा है। (द्र० अनु० २ ख) सात स्वर कहने के वाद सातों स्वरों के रस वता दिए हैं। सभी संगीत के विद्यार्थी इस विनियोग की वात सुना करते हैं, पढ़ा करते हैं, लेकिन उसमें कुछ समस्या भी है जिसकी चर्चा मैं वाद में करूँगी, पर इतना कह दिया कि हास्य-शृंगार में मध्यम-पंचम, वीर-रौद्र-अद्भुत में षड्ज-ऋषभ, करुण में गान्धार-निषाद और वीभत्स-भयानक में धैवत स्वर करना चाहिए।

हास्य और शृंगार के प्रसंग में मध्यम और पंचम को लेना; हास्य और शृंगार का जोड़ा है ही नाट्यशास्त्र में, उसकी चर्चा भी अभी मैं करूँगी। वीर, रौद्र और अद्भुत में षड्ज-ऋषभ, करुण में गान्धार और निषाद और वीभत्स और भयानक में धैवत। तो ये एक-एक स्वर या दो-दो स्वर जो कहे, केवल एक स्वर या दो स्वर से संगीत में कोई वात नहीं बनती है कि जिससे कोई विनियोग किया जाय। इसका अर्थ आचार्यों, भाष्यकारों, टीकाकारों ने यही किया है कि इस स्वर की प्रधानता यानी इस स्वर को अंश वनाकर जो भी मूर्छना वने, उसकी जो स्वरावलि हो, उसका प्रयोग इन-इन रसों के प्रसंग में करना। यानी विनियोग की वात यह है कि रस पहले है, रस के अनुसार तव हम यह निश्चय करते हैं कि हम यह स्वरावलि लगाएँगे। यह विनियोग की जो पद्धति है, यज्ञ में से आयी है; यज्ञ में भी यही है कि यज्ञ के अमुक अंग में या अमुक प्रकरण में, अमुक प्रसंग में क्या किया जाय। कौन से मन्त्र पढ़े जाएँगे, कैसे गाये जाएँगे, क्या-क्या किया जाएगा, वह यज्ञ की प्रक्रिया हमारे सामने है और तव हम मन्त्रों का विनियोग उसमें समझते हैं। वैसे ही यह हमें पहले मालूम होना चाहिए कि हमारा प्रयोग किस रस पर आधारित होने वाला है, तव हम यह निर्णय करेंगे कि अव हम क्या स्वरावलि लगाएँ। कौन-सा लय-प्रयोग करें, कौन-सा स्वर-प्रयोग करें, कैसा बन्ध बनाएँ, क्या करें। यह एक विनियोग की पद्धति है, जो कि पूरी की पूरी अपनाई गयी है नाट्यशास्त्र में भी और उसके वाद के संगीत-ग्रन्थों में भी। और विनियोग के प्रसंग में हमेशा सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है, यह भी सभी शास्त्रों के अध्येता जानते हैं। ऐसे ही हमेशा, चाहे वह राग का प्रसंग हो, चाहे वाद में भी प्रवन्धों का प्रसंग हो, जो कुछ भी हो, सप्तमी का प्रयोग करके ही हमेशा ऐसा कहा है : 'रसे वीरे प्रयुज्यते'। या और जो भी हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रस का प्रसंग आपको पहले मालूम है, तब आप यह तय करते हैं कि हम अब क्या स्वरावलि लगाएँ, कौन-सी लय लगाएँ और क्या-क्या करना चाहिए। अब पाठ्य के प्रसंए में ही स्वर बताने के बाद अलंकार बताये गये हैं पाठ्य के; (द्र० अनु० २ ग)छः अलंकार बताये जिसमें उच्च है, दीप्त है। उच्च और दीप्त में केवल इतना ही अन्तर है कि उच्च को तो कहा कि यह तार स्वर है और दीप्त को कहा कि यह तारतर है। ये कोई संगीत के स्थान नहीं हैं, मन्द्रादि तीन स्थान नहीं हैं। हम बोलने में आवाज़ को ऊँचा करते हैं, और भी ऊँचा करते हैं कभी, जैसे कि वहाँ बताया कि दूर कोई है, उसको बुलाना हो, तो बहुत जोर से हम बोलेंगे। उससे भी अधिक दूर है, तो और जोर से हम बोलेंगे। पास में है, तो कम जोर से बोलेंगे। हम यह समझ कर ही अपनी आवाज को बड़ा या छोटा करते हैं कि कितनी दूर तक आवाज़ को हमें पहुँचाना है, तो उस सारे विनियोग को कहा ही है, लेकिन उसके साथ-साथ भावों का नाम भी लिया है। यहाँ मेरा प्रसंग तो केवल भाव या रस से है, इसलिए उसी की बात मैं करूँगी और सब छोड़ दूंगी। जैसे उच्च जो अलंकार है, उसे शिर-स्थानगत तार स्वर कहा है। उसमें दूरस्थाभाषण है, उत्तरोत्तर संजल्प है, दूराह्वान है, ठीक है, लेकिन उसमें विस्मय भी है। भावों की दृष्टि से उसमें विस्मय रख दिया है, त्रासन रख दिया है, किसी को डराना हो, तो जोर से ही बोलेंगे आप। फिर दीप्त है, उससे भी तारतर है। उसमें आक्षेप, कलह, विवाद ये सब कुछ कहे, पर भावों के नाम भी हैं, अमर्ष है, क्रोध है, शौर्य है, दर्प है, इनके प्रसंग में आप दीप्त अलंकार का प्रयोग करेंगे। फिर वैसे ही मन्द्र है, मन्द्र में निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, दैन्य, व्याधि, मूर्छा, मद इन भावों के नाम ले लिए। फिर अब लय की बात आती है, द्रुत है, तो द्रुत के लिए कहा कि भय में, त्रास में द्रुत लय हो जाएगी। फिर विलम्बित है, तो उसके लिए और सब विनियोग कहे ही, लेकिन कहा कि शृंगार में, करुण में, वितर्कित में, विचार में, असूयित में, लज्जा में, चिन्ता में, इनमें विलम्बित लय का प्रयोग होगा। तो इस प्रकार पाठ्य के इन अलंकारों का विनियोग रसों के आधार पर बताया और आगे फिर एक सामान्य सिद्धांत भी जैसे बता दिया। सब अलग-अलग भावों का नाम कहाँ तक गिनाएँ, यह सोच कर आचार्य कहते हैं :

यानि सौम्यार्थयुक्तानि सुखभावकृतानि च।

जितने भाव ऐसे हैं, जिनमें सौम्यार्थ है, सुखभाव है, किसी प्रकार की उत्तेजना, उद्वेलन या विचलित भाव जहाँ नहीं है, समाहितभाव है, वहाँ पर :

मन्द्रा विलम्बिता चैव तत्र काकुर्विधीयते॥

वहाँ मन्द्र स्वर रहेगा आपका और विलम्बित लय रहेगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"यानि स्युस्तीक्ष्णरूपाणि" सौम्य के विरोध में अब तीक्ष्ण खड़ा कर दिया, जहाँ भी किसी प्रकार की तीक्ष्णता है, वहाँ दीप्ता और उच्चा काकु रहेगी।

यानि स्युस्तीक्ष्णरूपाणि दीप्ता चोच्चा च तेष्वपि।

यह अलंकारों के बारे में कह दिया। अब पाठ्य में छः अंग भी बताए हैं, जिनका सम्बन्ध या तो विराम से है, कहाँ-कहाँ विराम हम करते हैं, वाक्य पर विराम करते हैं या पदच्छेद में विराम करते हैं और या छन्द की यति या पादान्त में करते हैं या फिर जिसको आज हम कहते हैं ध्वनि की तीव्रता या विस्तार, उसकी चर्चा है इसमें। अभी तक तो तारता (पिच) की चर्चा थी, ऊँचा-नीचा इसकी चर्चा थी, उच्च-दीप्त यह तारता की बात है। अब तीव्रता की बात करते हैं या विच्छेद की, विराम की, कहाँ-कहाँ हम विच्छेद करेंगे। तो, विच्छेद यानी विराम और अर्पण यह तीव्रता की बात है। अर्पण यानी मधुर स्वर से रंग का पूरण या भराव। विसर्ग है वाक्यन्यास, अनुबन्ध है पदान्तर में भी विच्छेद और दीपन त्रिस्थानशोभी है। वर्धमान स्वर, स्वर का क्रमशः चढ़ते जाना यह स्वर का दीपन है। क्रमशः प्रशमन है ऊपर से नीचे ला कर क्रमशः स्वर का प्रशमन करना, इस प्रकार ये जो षडंग हैं, इनमें भी रसगत विनियोग बता दिया है। कहा कि हास्य-शृंगार में अर्पण, विच्छेद, दीपन, प्रशमन यह करना, करुण में दीपन और प्रशमन करना, वीर, रौद्र, अद्भुत में विच्छेद, प्रशमन, दीपन ये करना, बीभत्स-भयानक में विसर्ग, विच्छेद करना यानी टूट-टूट कर बात वहाँ होगी, बहुत उसमें शृंखला-बद्ध नहीं होगी, विराम उसमें कुछ अधिक आ जाएँगे। वैसे ही फिर लय की बात भी कर दी है कि हास्य-शृंगार में मध्य लय करिए, करुण में विलम्बित लय करिए, वीररौद्राद्भुतभयानक में द्रुत लय करिए। इस प्रकार का विनियोग पाठ्य को लेकर स्वयं नाट्यशास्त्र ने बताया है।

इसमें संगीत के विद्यार्थियों के लिए एक बहुत ही रोचक बात है, अधिकतर लोगों का इस पर ध्यान नहीं गया है अभी तक। नाट्यशास्त्र के ३४वें अध्याय में जब सारे अवनद्ध वाद्यों का वर्णन है, तो वहाँ जातियाँ ऐसी बताई गयी हैं, जिनका केवल अवनद्ध (चमड़े से मढ़े) वाद्यों की ध्वनियों से ही सम्बन्ध है। (द्र० अनु० २ घ) स्वरों को लेकर तो १८ जातियाँ हैं ही, उनको तो विद्यार्थी पढ़ते रहते हैं और उन पर कुछ-न कुछ सोचा भी गया है, पर ये अवनद्ध वाद्यों के जो अक्षर हैं, उनकी भी जातियाँ बनाई हैं। आज आप लोगों ने देखा होगा कि तबला-वादक या पखावज-वादक बीच-बीच में पढ़न्त करते हैं, यानी जिन अक्षरों का बन्ध वे बजाने वाले हैं, उसको पहले पढ़ते यानी बोलते हैं और फिर बजाते हैं, आप सबने सुना होगा। तो यह पद्धति आज की नहीं है, नाट्यशास्त्र में भी यह पद्धति है, यानी अवनद्ध वाद्य पर वाद्य के किस स्थान पर और हाथ का कौन-सा हिस्सा, उंगली का भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आगे का हिस्सा जिसे चाँटी कहते हैं, वह या पूरा हाथ या हाथ का किनारे का हिस्सा, इस प्रकार से खुले हाथ से मारेंगे या ऐसे वन्द हाथ से मारेंगे या किन्हीं तीन उंगलियों से मारेंगे, या एक से मारेंगे या एक के भी किस हिस्से से मारेंगे और वाद्य के किस हिस्से पर मारेंगे, क्योंकि वाद्य के भी कई अंग हैं, जहाँ पर प्रहार किया जाता है, एक ही स्थान पर सब समय प्रहार नहीं किया जाता है। तो इन सबको लेकर प्रहारों के भेद को दिखाने की हम लोगों की एक 'कोड' की भाषा है, जिसको कि हम पाटाक्षर कहते हैं, जिसकी पढ़न्त वादक किया करते हैं। यह उनकी 'कोड' भाषा है। निश्चित वर्ण वने हुए हैं और उन्हीं वर्णों के फिर, जैसे भाषा में वर्णों को लेकर शब्द वनते हैं, शब्दों को लेकर वाक्य वनते हैं, बिल्कुल इसी तरह की प्रक्रिया से इन वाद्यों में वोलों की रचना हुआ करती है। उन वोलों में कुछ कठोर ध्वनियाँ होती हैं, कुछ मृदु ध्वनियाँ होती हैं। तो इन कठोर और मृदु ध्वनियों के विशेष प्रकार के संयोग जो बनते हैं, उन का भी अपना प्रभाव होता है। यदि कठोर वर्णों का वाहुल्य है तो एक प्रकार के ओजस् की प्रतीति आपको होगी, एक प्रकार की उत्तेजना की प्रतीति होगी। यदि मृदु वर्णों का वाहुल्य है, तो एक प्रकार के माधुर्य की प्रतीति होगी। कम-से-कम ये दो छोर तो हमेशा इन वाद्यों में दिखाई देते हैं। तो इन्हीं वर्णों के विभिन्न संयोगों को लेकर नाट्यशास्त्र ने १८ जातियाँ बनायी हैं, जैसे स्वरों की जातियाँ बनायी हैं। स्वरों से वनी जातियों में तो रसाधारित विनियोग है, किन्तु वर्णों की इन जातियों के निरूपण में भी कहीं-कहीं रस का नाम ले लिया है; कहीं-कहीं, सर्वत्र तो नहीं। जैसे एक-दो जगह मुझे मिला, कहा कि करुणाश्रया जाति है यह। तो ऐसा लगता है कि वाकी सब सम्प्रदाय (वाचिक परम्परा) पर छोड़ दिया होगा। सवका निरूपण नहीं किया, लेकिन ऐसा लगता है कि इन अवनद्ध वाद्यों के विभिन्न वर्ण-संयोगों को लेकर भी कुछ-न-कुछ रसाधारित चिन्तन हुआ है, जिसका कि थोड़ा-सा संकेत नाट्यशास्त्र में मिलता है।

इस प्रकार लघु-गुरु अक्षरों का विनियोग, सप्तस्वरों का विनियोग, पाठ्य के अलंकारों और अंगों का विनियोग, किस प्रकार रस के आधार पर नाट्यशास्त्र में कहा है, इतना-सा मैंने निवेदन किया। यह हो गयी वाचिक की बात और उसके साथ ही पाठ्य की वात; दोनों जुड़े हुए हैं, क्योंकि पाठ्य शब्द जो है, उसके दो पक्ष हैं। जिसका हम पाठ करते हैं, वह भी पाठ्य है और जिस रीति या पद्धति से पाठ करते हैं, वह भी पाठ्य है, क्योंकि काकु भी पाठ्य के अन्तर्गत आ जाती है और छन्दों का, अलंकारों का, लक्षणों का, गुण-दोष का सारा निरूपण, यह भी पाठ्य के ही अन्तर्गत है। हमारे पाठ्य का विषय क्या है या किसका हम पाठ कर रहे हैं, वह भी पाठ्य है और जिस ढंग से पाठ कर रहे हैं, काकु का उसमें जो भी विधान करें या करना चाहिए, वह भी पाठ्य का ही निरूपण कहा जाता है। 'गेय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शब्द भी इसी प्रकार है। जो कुछ गाते हैं, जिसे गाएँगे, जो गाने योग्य है वह भी गेय है और गाने की पद्धति या गाने का ढंग भी गेय है। दोनों ही गेय शब्द से कहे जाते हैं, ऐसे ही दोनों ही बातें पाठ्य शब्द से कही जाती हैं। तो पाठ्य में, वाचिक अभिनय में किस प्रकार रसाधारित विनियोग कहा, इसका थोड़ा-सा केवल नमूना मैंने यहाँ निवेदित किया। अब आंगिक अभिनय का भी थोड़ा-सा केवल नमूना कहूँगी।

आंगिक अभिनय में शिर से लेकर पाद तक सभी अंगों-उपांगों का निरूपण है। इस अभिनय का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, लेकिन एकाध उदाहरण मैं दूँगी। जैसे शिरोभेद १३ कहे गये हैं, सिर को हिलाने के प्रकार। (द्र० अनु० २ ङ) नीचे को देखना है, या ऊपर को देखना है, बहुत ऊँची वस्तु, मान लीजिए कि कुतुबमीनार को देखना है तो सीधे खड़े नहीं रहेंगे हम, सिर को पीछे करना पड़ेगा, तब ऊँची चीज दिखायी देगी या सिर को हम ऊपर-नीचे हिलाते हैं, कि दाएँ-बाएँ हिलाते हैं, कि नीचे झुकाते हैं, ये सिर की तमाम क्रियाएँ हैं, जो नाट्यशास्त्र में हैं। उसमें भी कहा कि जो कम्पित शिर है (कम्पित एक शिरोभेद है), उसका रोष में और वितर्क में प्रयोग होगा। वितर्क में जब आप यह सोच रहे हैं कि ऐसे करें कि ऐसे करें, तो सिर हिल सकता है। रोष में और जोर से हिलेगा, यह तो प्रयोक्ता को स्वयं समझना है। या कोई अनपेक्षित बात हो गयी हो, विषाद की बात हो, विस्मय हो या प्रत्यय हो तो 'धुत' शिर होगा, यह कम्पित से कुछ ज्यादह जोर से हिलता है। अनीप्सित कोई बात हो गयी हो, विषाद का प्रसंग हो, विस्मय का प्रसंग हो या प्रत्यय यानी 'अब समझे, अब समझ में आया', तब भी हम लोग सिर हिलाते हैं, यह प्रत्यय की बात है। अब तक नहीं समझे थे, अब यह बात समझ में आयी। फिर दृष्टियों के तो नाम ही हैं रसदृष्टियाँ और भावदृष्टियाँ। रसदृष्टियाँ आठ हैं, स्थायिभाव-दृष्टियाँ आठ और भावदृष्टियाँ बीस हैं। अब इनमें तो कुछ कहना ही नहीं है। सारी-की-सारी दृष्टियाँ, रस और भाव के आधार पर ही उनके नाम हैं। विनियोग तो है ही।

बीच में एक बात यहाँ कहना चाहूँगी कि विशेष रूप से नाट्य में, अन्य कलाओं में कुछ कम मात्रा में, विनियोग जो है, वह दो प्रकार का होता है, एक तो अर्थ का विनियोग और दूसरे रस का विनियोग। रसाधारित या अर्थाधारित विनियोग होता है। जैसे कि अब हस्त है। मान लीजिए कोई हस्त बताया, अब ये पताक हस्त ही है यह पहला हस्त है, जिसको पताक हस्त कहते हैं। अब इसके तमाम विनियोग हैं। अर्थाधारित विनियोग ऐसे हैं कि मान लीजिए किसी को चपत दिखाना है तो भी यही हाथ होगा। अब यह अर्थाधारित है, इसमें भाव का कुछ नाम नहीं लिया गया या मान लीजिए फूल चुनना है, तो फूल चुनना जीवन की एक अवस्था है यानी इसी को वे कहेंगे अर्थ। अर्थाधारित विनियोग यह है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्या प्रसंग दिखाना है तो आप कौन-सा हस्त लगाएँगे, कौन-सा पैर लगाएंगे, क्या करेंगे, यह विनियोग होगा या तो और या फिर भाव-रस के आधार पर होगा। ये दो ही प्रकार के विनियोग नाट्य में सम्भव हैं, क्योंकि पहले ही उन्होंने पहले अध्याय में कह दिया कि नाट्य क्या है, यह लोकवृत्त का अनुकरण है और लोकवृत्त क्या है, भाव और कर्म, यानी समूचे जीवन की व्याख्या नाट्यशास्त्र ने केवल दो शब्दों में रख दी है। मनुष्य का पूरा जीवन क्या है? भाव है और कर्म है। ये सब कर्म हैं, फूल चुनना है या आपको कुछ ऐसा कहना है कि जाओ यहाँ से या बुलाना है, ये सब क्रियाएँ हैं। किसी को बुलाना है, आह्वान करना है या उसका विसर्जन करना है कि चले जाओ यहाँ से या और भी कोई क्रिया करना है तो यह सारा का सारा 'कर्म' शब्द में आ जाता है और फिर किस भाव से आप क्या कर रहे हैं, चित्तवृत्ति क्या है उस समय की, यह कहना है अगर, तो भाव की बात करेंगे, भाव का कुछ-न-कुछ नाम लेंगे। इसी प्रकार सभी विनियोगों में है। अब चतुर हस्त है एक, उसमें वे कह रहे हैं कि चातुर्य है, माधुर्य है, दाक्षिण्य है, मार्दव है, सुख है, शील है ये सारे के सारे हैं, और ये तो सब भाव हैं, लेकिन अब कपोत हस्त कहा तो उसमें कहा कि अगर शीत का प्रसंग दिखाना है तो इस हस्त का विनियोग होगा। (द्र० अनु० २ च) अब इसमें कोई भाव की बात नहीं है, शीत का प्रसंग दिखाना है तो भी और भय दिखाना है तो भी, दोनों में यह कपोत हस्त होगा क्योंकि दोनों में मनुष्य की क्रिया करीब-करीब एक-सी होती है। शीत से भी आदमी काँपता है और भय से भी काँपता है। तो इस प्रकार अर्थ और भाव ये दो विनियोग के मुख्य स्तम्भ हैं नाट्यशास्त्र में, जिनका कि क्रमशः कर्म और भाव से सीधा सम्बन्ध है। यहाँ वैयाकरण कहेंगे कि भाव शब्द व्याकरण में क्रियावाची है, अब उस अर्थ में यहाँ शायद नहीं लिया गया है, व्याकरण में तो भाव का अर्थ ही क्रिया है, लेकिन यहाँ तो कर्म अलग से ही लिया है, यह कर्म भी मुझे लगता है शायद व्याकरणवाला कर्म नहीं है, कर्त्ता का 'अभीप्सिततम' कर्म यह शायद नहीं है, यहाँ तो जीवन का जो बाह्य और अभ्यन्तर है, उसी को 'कर्म' और 'भाव' से कह दिया है, यही लोकवृत्त है। पूरे के पूरे लोकवृत्त की व्याख्या अगर करना है, तो इन दो शब्दों में नाट्यशास्त्र ने की है पहले ही अध्याय में और उसी प्रकार विनियोग है पूरे का पूरा, या तो अर्थ यानी कर्म है उसमें और या भाव है। बस दो ही बातें हैं।

आंगिक अभिनय के प्रतिपादन में बहुत बड़े दो अध्याय हैं, एक गति-सम्बन्धी और दूसरा चारी-सम्बन्धी। (द्र० अनु० २ छ) जिसमें गति का निरूपण है, उसमें चलना कैसे-कैसे, किस-किस स्थिति में किस-किस लय में चलना, इसका बड़ा भारी निरूपण है। और चारी विशिष्ट प्रकार की गति है। गति तो किसी भी प्रकार हो सकती है, लेकिन चारी में बहुत कुछ विधान है, किस प्रकार पैर किधर ले जाना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, दायाँ पैर क्या करेगा, वायाँ क्या करेगा इत्यादि। वहुत-वहुत उसमें लम्वा विधान है। अब गति में देखें तो वहाँ अर्थाधारित विनियोग भी है और भावाधारित विनियोग भी है, दोनों ही हैं। पहले तो यह वताया है कि किस कोटि का पात्र होगा, तो उसको कैसे चलना चाहिए। सव पात्र एक तरह से तो नहीं चलेंगे न। एक लय में सव नहीं चलेंगे। कोई धीर-गम्भीर लय में चलेगा, कोई द्रुत लय में चलेगा, कोई ऐसी लय में चलेगा जो वीच-वीच में टूटी-फूटी है, कभी द्रुत है, कभी विलम्वित है, जिसमें कोई पूर्वापर संगति नहीं है, ऐसा भी करना पड़ता है किसी-किसी प्रसंग में। यह सारे का सारा निरूपण गति-सम्वन्धी अध्याय में है, वहाँ पर शुरू में ही कहा कि पहले भाण्ड वजाना; अवनद्ध वाद्य का ही दूसरा नाम नाट्य-शास्त्र में भाण्ड है, क्योंकि सारे के सारे अवनद्ध जो हैं वे किसी न किसी वर्तन पर ही मढ़े होते हैं। नाट्यशास्त्र 'भाण्ड' अधिक कहता है। अवनद्ध वाद्य तो वहुत कम, कभी ही कहता है।

पात्रों का प्रवेश होने से पहले भाण्ड वजेगा और वह भाण्ड कैसा वजेगा? 'यथामार्गरसोपेत'। चाहे जो नहीं वजेगा उस समय। जिस प्रकार के पात्र का प्रवेश होना है, उसके लिए यदि वह भाण्ड भूमिका तैयार करता है, तो उसके अनुरूप वजेगा। तव पात्रों का प्रवेश होगा। फिर, थोड़े-थोड़े से विनियोगों के मैंने उदाहरण लिए हैं, सवको तो लेना सम्भव नहीं है।

ज्वरार्त, क्षुधार्त, तपःश्रान्त, भयान्वित पात्र की और विस्मय, अवहित्था, औत्सुक्य, शृंगार, शोक, स्वच्छन्दगमन आदि के प्रसंग में स्थित यानी विलम्वित लय में गति होगी। विलम्वित को ही स्थित भी कहते थे वे लोग।

पुनश्चिन्तान्विते चैव गतिः कार्या चतुष्कला।

यदि चिन्तान्वित किसी पात्र को दिखाना है, तो और भी विलम्वित, यानी चार-चार कलाओं का एक-एक पाद-विक्षेप होगा। कला एक कालमान है।

किसी को ढूंढ़ रहे हैं, किसी का पीछा कर रहे हैं, तव इतनी धीमी गति से नहीं चल सकेंगे कि चार-चार कलाओं में एक-एक पैर रखें। यहाँ 'त्रिकल' पाठ भी है और 'विकल' भी है। मुझे लगता है 'विकल' ठीक है, यानी फिर कोई कलाओं का हिसाव नहीं रहेगा। मान लीजिए किसी जानवर का पीछा किया जा रहा है, दौड़ना ही पड़ेगा, उसमें कोई कलाएँ गिनकर पादन्यास नहीं होगा वहाँ। या किसी को, शत्रु को खोज रहे हैं या भय में हैं, आवेग में है, ऐसे समय जो भी गति होगी, वह विकल होगी, यानी उसमें कोई कलाओं का हिसाव नहीं रहेगा। इस प्रकार गतियों में, वैसे तो अधिकांश विनियोग वहाँ अर्थाधारित है किन्तु इस प्रकार भावाधारित विनियोग भी है, इसी को यहाँ मैं थोड़ा-सा रखना चाहती थी। और भी वहुत तरह से है, जैसे, विस्मय और हर्ष में वेहिसाव, वेतरतीव पैर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पड़ेंगे, यही कहने का मतलव है। यह आंगिक अभिनय का केवल शिर, हस्त और गति के आधार पर थोड़ा-सा मैंने उदाहरणमात्र प्रस्तुत किया कि किस प्रकार विनियोग रसाधारित है।

उसी प्रकार जो दशरूपक-विधान है नाट्यशास्त्र में, उसमें भी रसों का प्रसंग वार-वार लाया गया है। (द्र० अनु० २ ज) जो नाटक है या प्रकरण है, उसमें कौन-कौन-सा रस रहेगा, समवकार है, तो उसमें क्या रहेगा। इस प्रकार से दशरूपकों के निरूपरण में भी रस का प्रसंग वार-वार उठाया गया है। और कहा गया है कि सभी रूपकों की रचना यथारस होनी चाहिए। जो भी हम काव्य की रचना करेंगे वह सारी की सारी रसानुरूप होनी चाहिए।

सभी काव्यों के निर्वहण, परिसमाप्ति में अद्‌भुत रस कुछ-न-कुछ होगा ही, हम देखते हैं कि सव नाटकों में अन्त जब होता है, उसमें कुछ-न-कुछ अद्‌भुत वात आ ही जाती है। तो इस तरह का रस का उल्लेख दशरूपक-विधान में भी वहुत अच्छी तरह, वहुत खुलकर हुआ है, इतना-सा ना० शा० के विनियोग के सम्वन्ध में कहती हूँ।

अव थोड़ी-सी साहित्यशास्त्र की वात कर लेती हूँ, वहुत संक्षेप में और फिर शिल्पशास्त्र की, इसके वाद संगीत पर ही आ जाऊँगी। साहित्य में विनियोग क्या हो सकता है, यानी साहित्य में हमारे पास जो माध्यम है वह शव्द है। अर्थ की तो वात करने का कोई प्रसंग ही नहीं है वहाँ, क्योंकि अर्थ का क्या विनियोग होगा। विनियोग जो हो सकता है, तो वह वर्ण-संघटना का, या पदसंरचना का या पद-वन्ध का या छन्द का है। इन्हीं सव का विनियोग हो सकता है, क्योंकि साहित्य में हमारा वही माध्यम है, जैसे कि संगीत में विनियोग अगर होगा, तो स्वर और ताल का ही होगा, क्योंकि उसी से उसका शरीर बना है। साहित्य का शरीर, हम यह जरूर कहते हैं कि शव्द और अर्थ का वना है, वह तो ठीक है। अर्थ तो अपने आप आयेगा, यदि हमने यह मान लिया है कि रस की व्यंजना ही साहित्य का चरम उद्देश्य है, यह यदि मान कर चले हैं, तो अर्थ को तो अपने-आप उसके अनुरूप रहना ही होगा, किन्तु विनियोग यदि कहा जा सकता है, तो वह पद का, वर्ण-संरचना का, पदवन्ध का ही हो सकता है, उसमें छन्द की और वर्ण-संरचना की वात उठ सकती है, जो कि साहित्यशास्त्र में अवश्य आयी है, इतना-ही-सा मैं निवेदन करना चाहती हूँ।

वर्णों की और छन्द की वात इस प्रकार आयी है। मैं एक ही उदाहरण दूंगी काव्यप्रकाश का। उसमें सप्तम उल्लास में जव दोषों का वर्णन है, तो वहाँ दोषों में एक दोष यह भी वतलाया है, 'प्रतिकूलवर्ण' और प्रतिकूलवर्ण का लक्षण क्या किया है :

रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते, तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णम्।
(द्र० अनु० २ झ)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिकूल, किसके प्रतिकूल ? प्रतिकूलवर्ण क्यों कहा जाता है, कोई वर्ण क्यों प्रतिकूल है ? रस के प्रतिकूल है, तो वह प्रतिकूल कहा जाता है, जैसे कि शृंगार में कठोर वर्ण लगाएँ, वीर में मृदुवर्ण लगाएँ, तो यह प्रतिकूलवर्ण दोष कहलाएगा। दूसरा एक दोष कहा है, जिसमें रस की चर्चा आती है। ऐसे ही दोष मैं ले रही हूँ, जिनमें रस की चर्चा आ रही है, रस के कारण जो दोष बताए गये हैं। दूसरा दोष है, 'हतवृत्तम्', छन्द जिसमें टूट गया है। तो छन्द अपने लक्षण के हिसाब से टूट जाय, वह भी एक प्रकार है, लेकिन हतवृत्त का एक प्रकार यह भी बताया है, कि वृत्त जो है, वह रस के अनुरूप न हो। रस के अनुरूप न हो, अपने आप में लक्षण-सम्पन्न भले हो। लक्षण के आधार पर बना हो, तब भी वह 'हतवृत्तम्' कहा जाएगा। उदाहरण दिया है कि दोधक वृत्त है और प्रसंग है शोक का, तो शोक के लिए दोधक वृत्त लगा दिया। इसमें मम्मटाचार्य का यह कहना है कि यह वृत्त तो हास्यरस के अनुरूप है, इसको यहाँ शोक में लगा दिया, यह दोष है। अर्थात् यह स्वीकार किया गया कि छन्द का चयन, आपका जो भी प्रतिपाद्य भाव या रस है, उसके अनुरूप होना चाहिए, यदि नहीं है, तो हतवृत्त दोष होगा। यदि आपके वर्ण उस रस या भाव के अनुकूल नहीं हैं, तो प्रतिकूल-वर्ण दोष होगा। इस प्रकार इन दोषों का आधार रस ही है, दूसरा कुछ नहीं, इसीलिए इन दोषों की थोड़ी-सी मैंने चर्चा यहाँ उठायी।

इसके बाद काव्यप्रकाश के आठवें उल्लास में जब गुण का निरूपण है, तो उसमें भी यह सभी जानते हैं, विशेषतः साहित्यशास्त्र के विद्यार्थी जानते हैं कि काव्यप्रकाश में माधुर्य, ओजस् और प्रसाद, इन तीन गुणों को रस के धर्म कहा गया है। इनमें से माधुर्य और ओजस् का चित्त की दो भिन्न स्थितियों से सम्बन्ध है। और यह भी बड़ी परम्परागत बात है, ऐसा नहीं है कि यह कोई ऐसी बात है, जो कि परम्परा में न रही हो। स्वयं नाट्यशास्त्र ने हमें चौथे और पाँचवें अध्याय में पूर्वरंग के प्रसंग में दो शब्द दिए हैं, सुकुमार और उद्धत। (द्र० अनु० २ ख) पूर्वरंग में किसी रस का नाम नहीं लिया गया है, क्योंकि वह नाटक नहीं है, वह अनुकरण नहीं है। अभिनवगुप्तपाद ने कहा है कि यह तो अनुकरण नहीं, यह तो परमार्थ है। आप स्वयं अपने प्रयोग की सफलता के लिए कुछ गीत, नृत्य प्रयोग कर रहे हैं, इसमें अनुकरण नहीं कर रहे हैं, यह तो आपका 'परमार्थ' है यानी आपके लिए यह यथार्थ है। आपका यह यथार्थ है कि आप जो प्रयोग या नाटक आगे करने वाले हैं, उसकी सफलता के लिए, उसकी सिद्धि के लिए, उसके निर्विघ्न निर्वाह के लिए आप कुछ अनुष्ठान भी कर रहे हैं, कुछ गीत, वाद्य नृत्य प्रयोग कर रहे हैं, विशेष प्रयोजन से। यह तो आप इसी काल में कर रहे हैं। आप न इस देश को बदल रहे हैं, और न काल को बदल रहे हैं। नाटक में जब पहुँच जाएँगे हम, तब तो देश भी बदल जाएगा और काल भी बदल जाएगा, दोनों ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वदल जाएँगे, तब इस देश और काल में हम नहीं रह जाएँगे, पर पूर्वरंग तो इसी देश और काल में रहके करते हैं। इसलिए वहाँ रस का नाम ही नहीं लिया है। लेकिन फिर भी दो शब्द वहाँ दिए हैं, क्योंकि कुछ भी प्रयोग हम करेंगे, तो या तो वह हमें मृदु या कोमल प्रतीत होगा और या एक प्रकार के ओजस् का प्रभाव छोड़ेगा। तो उसी को ना० शा० ने सुकुमार और उद्धत ये दो शब्द देकर कहा है कि पूर्वरंग सुकुमार भी हो सकता है, उसमें जो नृत्त आप कर रहे हैं, वह सुकुमार भी हो सकता है और उद्धत भी हो सकता है। ताण्डव और लास्य ऐसे शब्द ना० शा० में नहीं हैं, ये बाद के शब्द हैं। लेकिन सुकुमार और उद्धत जरूर हैं। तो वैसे ही ये जो तीन गुण हैं, उन तीन में से भी प्रसाद तो 'सर्वरसस्थिति' है, वह तो तटस्थ है, इसलिए उसको एक क्षण के लिए छोड़ दें। ये दो गुण जो हैं, माधुर्य और ओज ये सारे रसों को एक प्रकार से सुकुमार और उद्धत इन दो वर्गों में बाँट रहे हैं। यह कहा ही है :

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।

(द्र० प्रनु० २ ट)

जैसे मनुष्य में शौर्यादि उसके आत्मा के धर्म हैं, न कि शरीर के, वैसे ही रस जो कि काव्य का आत्मा है, उसी के धर्म हैं ये माधुर्यादि, न कि शब्द और अर्थ के। बड़े विस्तार से यह प्रतिपादन है वहाँ, मैं उसमें नहीं जाती। हमारे काम की बात इतनी ही है कि रसों को उसने दो वर्गों में, जैसे दो प्रकार के प्रभाव उनके हो सकते हैं, रख कर देखा है। माधुर्य जिसमें करुण, विप्रलम्भ-शृंगार, और शान्त इन तीन को रख दिया है और दूसरा ओजस् जिसमें वीर, रौद्र और वीभत्स को रख दिया है। तीन को छोड़ दिया है, हास्य, भयानक और अद्भुत। तो उसमें टीकाकारों का यह कहना है कि इनमें दोनों गुण दिखायी देते हैं, किसी में एक अधिक तो दूसरा कम, इसलिए इनको एक-एक खेमे में नहीं बाँटा है। यहाँ हमारे बहुत काम की बात यही है कि रसों का भी एक धर्म खोजा गया है यानी रस के आगे वात वढ़ायी गयी है। यहाँ तक कि ये जो रस हैं, जिनकी हमने गणना की है, इनमें से भी कुछ का प्रभाव चित्त की द्रुति करने वाला है, कुछ का प्रभाव चित्त की दीप्ति करने वाला है। ये द्रुति और दीप्ति दो शब्द हमें दिए आचार्यों ने। चित्त पर जो इन रसों का प्रभाव होगा, वह है तो सभी आनन्दात्मक, उसमें कोई अन्तर नहीं है किसी में भी, किन्तु फिर भी चित्त पर दो प्रकार का प्रभाव हो सकता है मोटे तौर पर। वैसे तो उसमें अनगिनत मात्रा-भेद हो सकता है, जिसका कि कोई लेखा-जोखा न तो कोई कर सकता है, न करने की कोई जरूरत है। वह संभव ही नहीं है, लेकिन मोटे तौर पर जब हमें बात करना है तो यह कहने से बड़ी आसानी हो जाती है कि जब हम कोई विशिष्ट नाम न दे सकें, तो इतना तो कह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही सकते हैं कि यह सुकुमार है, यह उद्धत है या इसमें माधुर्य है, इसमें ओजस् है; भले ही हम शृंगार, शान्त; करुण कुछ नाम न दे सकें। ऐसी अवस्था संगीत में वहुत आयेगी। अभी थोड़ी देर में उसकी चर्चा मैं उठाऊँगी। तो यह कह दिया उन्होंने कि यह जो माधुर्य है, यह आह्लादक है और चित्त की द्रुति करने वाला है और ओजस् जो है, वह दीप्ति और आत्म-विस्तृति करने वाला है। अव इन्हीं गुणों के हिसाव से वर्ण-संघटना बता दी है। वर्ण-संघटना का विवरण देने का अव समय नहीं है। मोटी वात उसमें यही है कि जितने कठोर वर्ण हैं, वे माधुर्य गुण के साथ न रहें, वड़े-वड़े समास न रहें। ओजस् में समास-वहुलता हो सकती है, लम्वे समास हो सकते हैं और कठोर वर्णों का अधिक प्रयोग होगा, संयुक्त वर्णों का अधिक प्रयोग होगा। तो इस प्रकार से छन्द और वर्ण-संघटना दोनों को लेकर विनियोग की थोड़ी-वहुत चर्चा साहित्य में अवश्य हुई है।

अव थोड़ी-सी शिल्प की वात कर लेती हूँ। ऐसा है कि चित्र और मूर्ति दोनों ही शिल्प के अन्तर्गत आ जाते हैं। रेखा तो दोनों में समान है, चित्र में भी रेखा है और मूर्ति में भी रेखा है, किन्तु चित्र में विशेषता है कि उसमें 'वर्ण' भी है, रंग भी है। मूर्ति में रंग की उतनी वात नहीं है और उसमें तीसरा आयाम गहराई भी है। रंग की वात मूर्ति में है तो इतनी ही कि किस रंग का पत्थर, काष्ठ या मट्टी आपने ली है। लेकिन उसमें रंग की चर्चा वहुत अधिक नहीं है और हो भी नहीं सकती।

एक ग्रन्थ कुछ समय पहले प्रकाशित हुआ है जिससे रेखा को समझने में वड़ी सहायता मिलती है। यह है वास्तुसूत्रोपनिषद्, जिसमें कुछ सूत्र हैं और भाष्य उपनिषद् के ढंग से है। इसका काल क्या रहा होगा यह तो नहीं कह सकते, उपनिषद्-काल तो नहीं ही है, किन्तु उपनिषद् नाम अवश्य दे दिया है, चाहे जैसे भी हो। लेकिन सूत्र हैं वास्तुशास्त्र के। (द्र० अनु० 2 ठ) उसमें वहुत सुन्दर निरूपण है। रेखाओं को लेकर पहले तो पंचभूतों के साथ जोड़ा है। पाँच में से तीन ही भूतों के साथ जोड़ा है। जो खड़ी रेखा या ऊर्ध्वरेखा है उसे अग्नि के साथ जोड़ा है, क्योंकि अग्नि की शिखा ऊपर को जाती है। जो पड़ी रेखा है, इसे जल के साथ जोड़ा है और जो 'डायग्नल' (तिरछी) है, इसको मरुत् या पवन के साथ जोड़ा है, क्योंकि पवन की गति तिरछी होती है। पहले तो इन तीन भूतों के साथ जोड़ दिया इन तीन प्रकार की रेखाओं को। यह कहा कि प्रतिमा हम वनाएँगे, ये रूप वना रहे हैं न, *'रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव'*। तो रूप का हम जो निर्माण करने जा रहे हैं, इसमें भाव का आरोपण करना होगा। ये दो-तीन सूत्र पढ़ दूंगी आपके सामने, वड़े अच्छे सूत्र हैं :

भावस्यारोपणं रूपकर्मणि विधेयम्।

रूपकर्म में भाव भी लाना होगा, फिर कहा कि :

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भावस्याधारो रसः।

भाव कहाँ से आयेगा ? भाव का आधार रस है, इसकी थोड़ी-सी चर्चा हमने कल की थी कि रस कैसे बीज है। कवि का हृद्गत रस बीज है, इस सब की चर्चा हमने की थी। तो कहा गया है—*भावस्याधारो रसः।* *नवधा रसः* कहकर फिर रसों के नाम भी गिनाए हैं। शायद किसी प्रकार कुछ पाठ त्रुटित हो गया है, जिससे एक रस अद्भुत इसमें से छूट गया है, नौ पूरे नहीं कर पाया है, हालाँकि शुरू में कहता है कि नौ हम कहेंगे। तो, शृंगार में मुख्य रूप से अब्रेखा की वात करता है, यानी पड़ी रेखा की। हास्य में भी। फिर और एक अच्छी बात कही है, कहता है, '*मुखलक्षणाद् रसं जानन्ति सर्वे ईक्षणे*'। रस को मूर्ति में से हम कैसे जानेंगे ? मुख से और उसमें भी नेत्र से। नहीं तो कैसे जानेंगे ? 'समरांगणसूत्रधार' भी मैंने उलटा-पलटा कि देखें रस के बारे में क्या कहता है। तो रस का जो अध्याय है, समरांगणसूत्रधार में,(द्र० अनु०२ ड) उसमें यही किया है कि जो दृष्टियाँ हैं (ना० शा० में नेत्र के अभिनय में दृष्टियाँ बताई गयी हैं, भावदृष्टियाँ और रस-दृष्टियाँ), उन्हीं को लेकर बिल्कुल वैसा का वैसा वहाँ रख दिया है। कहा है कि ये दृष्टियाँ जो हैं, ये रस का निरूपण करती हैं। इनका इस तरह से विनियोग करना चाहिए। यानि मूर्ति में से आपको भाव या रस दिखाई देंगे तो पहले पूरे शरीर को छोड़ कर मुख में से और मुख में भी नेत्र में से। दृष्टि का जो भी निरूपण ना०शा०में या अन्यत्र नृत्य के प्रसंग में है वह शिल्पशास्त्र ने भी ले लिया है और वहीं भाव और रस की बात कर ली है। वास्तुसूत्रोपनिषत् के भाष्य में मुख की बात भी है और कुछ-कुछ अलंकरणों की बात भी है, आयुधों की बात भी है, क्योंकि देवताओं के जो आयुध होते हैं, (द्र० अनु० २ ठ) उनसे भी कुछ भाव की, रस की बात निकलती है। तो वह सारी बात जोड़ कर बतलाई गई है। उसके पूरे विवरण में जाने का समय नहीं है, किन्तु इतना-सा मैं बताना चाहती थी कि शिल्प में, मूर्ति में रस की चर्चा मोटे तौर पर किस प्रकार हुई है।

चित्र में रंग की विशेषता है। मूर्ति में और चित्र में विशेष अन्तर यही है कि चित्र में रंग का खेल अधिक है। अब रंग पर ना० शा० में ही जाएँ, तो आठ रसों का जब निरूपण किया है, तो पहले तो आठ रसों के चार जोड़े बनाए हैं। (द्र० अनु० २ ढ) शृंगार और हास्य का जोड़ा, रौद्र और करुण का, वीर और अद्भुत का, बीभत्स और भयानक का। ये चार जोड़े बनाए। इनमें एक प्रकार से कारण-कार्य-भाव जोड़ा है। शृंगार से हास्य उत्पन्न होता है यह कहा। रौद्र से करुण उत्पन्न होता है। कारण-कार्य यानी एक पक्ष यदि रौद्र है, तो दूसरा पक्ष जिसके प्रति रौद्र का प्रयोग होगा, उसमें करुण उपजेगा। उसमें से करुण की निष्पत्ति होगी। वीर है, कुछ लोकोत्तर काम किसी ने किया तो अद्भुत लगेगा ही, स्वाभाविक है। वीर से अद्भुत की प्रतीति होगी। बीभत्स है, तो वह भयानक होगा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही, क्योंकि बीभत्स से भी हम दूर हटना चाहते हैं और भयानक से भी दूर हटना चाहते हैं। पास नहीं जाना चाहते, उसका स्पर्श नहीं चाहते। तो ये जोड़े बनाने के बाद इन आठों के रंग भी गिना दिए हैं। फिर ना० शा० में रंगों की बात आहार्य के प्रसंग में भी आती है, बहुत बाद में जाकर 25वें अध्याय में। (द्र० अनु०२ ण) किन्तु उसमें भी कोई रसाधारित विनियोग वहाँ वर्णों (रंगों) का नहीं कहा गया है। वहाँ तो किस प्रकार का पात्र है, उसके चेहरे को किस रंग से रंगना है, उसको किस रंग के कपड़ मिलने चाहिए, मुख्य रूप से तो उसका अपना रंग कैसा होना चाहिए, इसकी चर्चा अधिक है। श्रमिक है या बहुत सुखी वर्ग का आदमी है या तपस्वी है, तो उसके चेहरे का, शरीर का रंग कैसा होना चाहिए, इस पर बहुत कुछ विवेचन है, किन्तु वहाँ भाव और रस की बात नहीं है। रंग की चर्चा रस के साथ ना० शा० के केवल छठे अध्याय में ही मिली है। उसमें यही है कि शृंगार को श्याम कह दिया है, हास्य को सित यानी सफेद कहा है। रौद्र को रक्त कहा है। वह तो ठीक ही है, गुस्से का रंग लाल ही हो सकता है और क्या हो सकता है। वह तो बिल्कुल ही समझ में आता है। करुण को कपोत वर्ण दिया है। वीर को गौर दिया है। हम लोग तो आज गौर का मतलब सफेद ही समझते हैं लेकिन जब आहार्य का अध्याय देखा तो उसमें कहा है कि रक्त और पीत को जब मिलाया जाता है तो जो रंग बनता है, उसको गौर कहते हैं। बीभत्स को नील कहा है और भयानक को काला। इस प्रकार से रंगों की चर्चा इतनी-सी ना० शा० में रसों के आधार पर है। इसका कहीं विनियोग ना० शा० में देखने में नहीं आया।

अब मैं संगीत पर आ जाती हूँ। एक सवाल सबसे पहले उठता है कि जब हम रसाधारित विनियोग की बात करें तो एक संगीत ऐसा है जो कि नाट्य का अंगभूत है, जिसकी ना० शा० में विशेष रूप से चर्चा है। ना० शा० के २८वें से लेकर ३४वें अध्याय तक जिस संगीत की चर्चा है, वह प्रमुख रूप से ऐसा संगीत है जो कि नाट्य के अंगभूत होकर प्रयुक्त होता है, यह एक धारा है संगीत की। ना० शा० के चौथे और पाँचवें अध्याय में जिस संगीत की चर्चा है, पूर्वरंग के अन्तर्गत जो संगीत है, वह नाट्य का अंगभूत नहीं है, क्योंकि पूर्वरंग जो है, वह नाट्य नहीं है। नाट्य से पहले हो रहा है, इसलिए नाट्य के साथ उतना-सा तो जुड़ा जरूर है, किन्तु उसमें हम किसी अवस्था (जिसको नाटक में हम अवस्था कहते हैं) का अनुकरण नहीं कर रहे हैं। इसलिए हमारे सामने कोई नियत भाव या रस नहीं है। (द्र० अनु० २ त) अभिनवगुप्तपाद ने कहा है कि यहाँ पर गीत, वाद्य और नृत्य जो हैं, ये स्वयं प्रतिष्ठित(Autonomous)हैं। वे किसी के अधीन नहीं हैं और संगीत की वह धारा ना० शा० में तो उतनी प्रबल नहीं है, केवल पूर्वरंग में ही है, क्योंकि उस धारा का वर्णन करने की उसको कोई आवश्यकता भी नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाट्य की चर्चा है तो नाट्य के अन्तर्गत संगीत का बहुत विशद निरूपण किया है और पूर्वरंग में स्वतन्त्र संगीत का भी निरूपण कर दिया है थोड़ा बहुत। ये दोनों धाराएँ तो दिखा दी हैं, लेकिन मुख्य धारा तो उसकी नाट्य के अंगभूत संगीत की है।

आज जब हम चर्चा करने लगते हैं, तो हम आज जिसको मुख्य रूप से संगीत की मुख्य धारा समझते हैं, वह महफिल का आज का संगीत है और उसका नाट्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह नाट्य से सर्वथा स्वतन्त्र और स्वायत्त (Autonomous) है। ऐसी स्थिति में यह सारे का सारा विनियोग जो कि नाट्याधारित है, हमारे काम का नहीं रहता। नाट्याधारित मैं इसलिए कहती हूँ कि जब हम यह कहें कि वीर रस के प्रसंग में यह जाति या राग लगाना, यह स्वर-सन्निवेश लगाना, तो इसका मतलब यह है कि वीर रस के लिए जो भूमिका या आधार हमें रखना चाहिए वह हमारे पास है। नाट्य में वह प्रस्तुत हो रहा है, अभिनय वाचिक से हो रहा है, आंगिक से हो रहा है और उसको गीत-वाद्य भी पुष्ट कर देगा। वहाँ तो काम चल जाएगा, लेकिन जब आप शून्य में से शुरू कर रहे हैं, आपके पास कोई पूर्वपीठिका नहीं है, कोई पृष्ठभूमि तैयार नहीं की गयी है, न कुछ आंगिक क्रिया हुई है, न और कुछ वाचिक हुआ है, आप आकर गाने या बजाने बैठे हैं। तो जिस प्रकार नाटक में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी सबकी पूरी की पूरी स्थिति लाकर खड़ी की जा रही है और उसके साथ फिर गीत-वाद्य भी उसको पुष्ट करता है, वैसा कुछ तो हमारे पास नहीं है। नाट्य के पोषक संगीत के लिए अभिनवगुप्तपाद ने बड़ा अच्छा शब्द दिया है कि वह नाट्य का उपरंजन करता है। (द्र०अनु० २ थ) नाट्य के अन्तर्गत जो गीत, वाद्य या नृत्य है, वह क्या करता है ? वह नाट्य का उपरंजक है। उपरंजक है का अर्थ है कि नाट्य का जो रंग है उसी को गाढ़ा करता है, लेकिन रंग नाट्य ने बना रखा है कुछ। नाट्य के द्वारा जो कुछ भी रंजन हो रहा है, उसका यह उपरंजन कर देगा। यहाँ तक तो बात ठीक है, लेकिन जब आप उपरंजन नहीं कर रहे हैं और आज की स्थिति में तो यही है कि आप उपरंजन नहीं कर रहे हैं। जिसको हम आज उच्चांग संगीत कहें, अभिजात संगीत कहें या शास्त्रीय संगीत कहें जो कि 'क्लासिकल' का अनुवाद हो गया है, (कोई यह हमारा परम्परागत शब्द नहीं है) जो कुछ भी कहें, तो उसमें क्या होगा ? उसमें आप उपरंजन तो नहीं कर रहे हैं। आप सीधे रंजन कर रहे हैं। जब सीधे रंजन करेंगे तो स्थिति कुछ बदल जाती है, बदल कैसे जाती है ?

मेरे जो संगीत के गुरुजी थे, पं० ओंकारनाथजी ठाकुर, वे इस बात के लिए बहुत विख्यात थे कि वे श्रोताओं को किसी राग या रागिणी के प्रस्तुतीकरण के समय एक विशेष भावभूमि पर ले जाते थे। बहुत बार, हमेशा तो नहीं, लेकिन कई बार वे गाने से पहले थोड़ा-सा बोलते भी थे। यह बात मैं समझने के लिए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कह रही हूँ। इसमें न कोई गुण की वात है और न दोष की वात है। कभी-कभी थोड़ा-सा बोलते थे कि देखिए अव जो राग हम प्रस्तुत करने जा रहे हैं, इसकी प्रकृति हमें ऐसी लगती है, ऐसी स्थिति का इसमें चित्रण है, यह ध्यान में रखकर आप सुनेंगे तो अच्छा होगा। इन शब्दों में न भी कहते हों, लेकिन कुछ-न-कुछ भूमिका शब्दों के द्वारा कभी-कभी वाँधते थे। वह जो भूमिका वाँधते थे, वह एक प्रकार से उसी शून्य को भरने का उपक्रम था, जिसकी ओर मैंने अभी इंगित किया। मैंने कहा न कि एक शून्य में हमें काम करना है यहाँ, रंजन जो करना है हमें, तो उसके लिए हमारे पास कोई आधारभूमि नहीं है। आप कहेंगे, स्वर तो है, लेकिन उससे कोई निश्चित यानी नियत संप्रेपण हम कर सकें, ऐसा संप्रेषण जिसको कि कोई 'लेवल' लगाया जा सके यानी किसी रस का नाम दिया जा सके, यह वड़ी मुश्किल बात है। उसमें रस का निर्णय कभी नहीं हो सकता। यह हो सकता है कि आपको सुकुमार लगा या उद्धत लगा, इसका निर्णय तो हो जाएगा। यह कठिन नहीं है, लेकिन अव सुकुमार में भी आप कहें कि यह करुण है या यह विप्रलम्भ श्रृंगार है, इन दो में निर्णय नहीं हो सकता।

और भी एक मजे की वात होती है। जब संगीत में हम रसों की चर्चा करते हैं आज की परिस्थिति में जो कि नाट्य से स्वतन्त्र है, तो हम बहुत करके अधिक से अधिक चार रसों का ही नाम ले पाते हैं। श्रृंगार का वहुत अधिक नाम लेते हैं। करुण का भी वहुत अधिक नाम लेते हैं। शान्त का भी लेते हैं या बहुत हुआ तो वीर का ले लिया, वस। रौद्र, अद्‌भुत, भयानक, वीभत्स, हास्य इन पाँच का नाम नाट्य से स्वतन्त्र होकर लेना वड़ा मुश्किल है। आप कहीं भी देख लीजिए, किसी भी गायक-वादक को देख लीजिए, अगर वह नाम लेगा ही रस का तो इन चार में से किसी का लेगा। वहुत होगा तो अद्‌भुत कहा जा सकता है, जहाँ तैयारी की बात होती है। (Virtuosity) जिसको कहा जाता है अंग्रेजी में, वह अद्‌भुत है, क्योंकि लोकोत्तर काम है। हम यही कहते हैं कि 'वाह-वाह क्या तैयारी है।' यह अद्‌भुत रस की बात है। यानी जैसा सव लोग नहीं कर पाते, ऐसा कोई भी काम कोई करे, तो उससे एक अद्‌भुत की प्रतीति होती है, वह तो संगीत में भी होगी, किसी भी कला में होगी। कुछ-कुछ आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि अद्‌भुत तो सभी रसों में अनुस्यूत रहता है, (द्र० अनु० २ द) क्योंकि सभी रस अलौकिक हैं और अद्‌भुत तो अलौकिक ही है। तो वह ठीक है। लेकिन उसके अलावा हम या तो श्रृंगार की बात करते हैं या करुण की बात करते हैं या शान्त की बात करते हैं। प्रमुख रूप से इन तीन की ही बात हम किया करते हैं यानी वहुत करके माधुर्य की ही चर्चा करते हैं। अगर माधुर्य से भिन्न कुछ कहना चाहते हैं तो फिर वीर कह देते हैं, यह आज की स्थिति है। यानी बहुत वड़ा एक सवाल है कि यह रस की सारी प्रक्रिया की वात जिस प्रकार नाट्य में अन्वित होती है या पूरी की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूरी ठीक बैठती है, ठीक उसी प्रकार से ऐसी कला में उसे लाकर बैठाना, जो कि नाट्य से विल्कुल अपना स्वतन्त्र स्वरूप वना चुकी है, एक वहुत ही कठिन काम है। आज से करीव १६ वर्ष पहले १९७० में इसी भवन में संगीत नाटक अकादमी ने एक संगोष्ठी का आयोजन किया था; तो मुझे रस पर ही वोलने को कहा गया था उस समय। उस समय पहली बार मैंने यह बात वहाँ रखी थी कि मुझे ऐसा लगता है कि आज की स्थिति में यदि हम माधुर्यादि तीन गुणों के आधार पर संगीत के प्रभाव का निरूपण करें तो शायद अधिक सुविधाजनक होगा और अधिक ठीक से हम कर पाएँगे। मेरी इस वात का स्व० ठाकुर जयदेव सिंह ने उस समय वहुत ही प्रवल शव्दों में समर्थन किया था। उन्होंने कहा कि मुझे भी ऐसा लगता है कि ऐसा ही करें तो अच्छा होगा। प्रसंगवश मैं यह कह रही हूँ। लेकिन इसलिए कह रही हूँ कि वहुत दिन से इस पर मैं सोचती रही और पहली बार १९७० में मुझे कहने का भी अवसर मिला और संगीत नाटक अकादमी की पत्रिका में वह मेरा निवन्ध प्रकाशित भी हो गया था।

आज के संगीत की स्थिति मध्यकाल से भी कैसे भिन्न हो गयी है या १९वीं शताब्दी तक भी जो एक परम्परा थी वह भी आज कैसे विच्छिन्न हो गयी है, यह अव मैं कहती हूँ। जव संगीत नाटक से स्वतन्त्र भी हो गया तो भी एक राग-ध्यान की परम्परा चली। जिस समय नाटक से स्वतन्त्र संगीत एक विशिष्ट प्रतिष्ठा से युक्त हुआ उसी समय की यह घटना है कि रागध्यान की परम्परा शुरू हो गयी। रागध्यान की उस परम्परा ने, नाट्य से उस विच्छेद के द्वारा जो एक शून्यभाव आया था, उसको भरने का एक वहुत सफल और मैं कहूँगी बड़ा सशक्त प्रयास किया था। रागध्यान में बड़े सूक्ष्म रूप से एक 'मिनिएचर' के रूप में कोई-न-कोई अवस्था आ जाती थी। इतना ही कह दिया कि यह तोड़ी रागिणी है, यह हाथ में वीणा लिए खड़ी है, मृग इसको घेरे हुए हैं, कभी कह दिया वियोगिनी है, यह सव था। कुछ थोड़ा-सा कह दिया तो उससे भी हमें कुछ-न-कुछ सन्दर्भ मिलता है। यानी संगीत के बाहर कुछ सन्दर्भ मिलता है, जिससे कि यदि आप सहृदय हैं, यदि आप उस परम्परा में पले हुए हैं, जिस परम्परा में कि यह रागध्यान विकसित हुआ है, तो प्रयोक्ता और श्रोता के मध्य एक सेतु निर्मित करने का थोड़ा-सा अवसर मिलता है। जिस मूर्ति का ध्यान करके प्रयोक्ता गा या बजा रहा है उसी मूर्ति का यदि श्रोता भी ध्यान कर रहा है, तो इनके बीच एक सेतु बनता है और एकात्मता स्थापित होने का एक मार्ग मिलता है। आज तो वह मार्ग भी नहीं है हमारे पास। क्योंकि रागध्यान की परम्परा सर्वथा लुप्त हो चुकी है। प्रयोग में तो कम-से-कम विल्कुल नहीं है। हम तो उसे एक इतिहास की वस्तु की तरह पढ़ते हैं, रागमालाओं को देखते हैं, वहुत हैं रागमालाएँ देश में, सैकड़ों होंगी, जिनमें कि काव्य के साथ चित्र वने हुए हैं, तो वे तो एक इतिहास की वस्तु हो गयी। म्यूज़ियम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की चीज हो गयी हमारे लिए। यदि थोड़ा बहुत उसका कुछ असर जीवित है, तो इतना ही-सा है कि जहाँ हमें कोमलता या मृदुता का आभास होता है, उसको हम कभी-कभी रागिणी कह देते हैं, पर वह भी कभी-कभी, अन्यथा आज हम सभी को राग ही कहते हैं। इस प्रकार की स्थिति में जब हम पहुँच गये हैं, तब हम बड़ी कठिनाई का अनुभव करते हैं कि हम किसी भी एक प्रयोग को या किसी भी एक राग को रस का कोई नाम कैसे दें। रस का नाम देना तो बड़ा आसान है, करुण कह दीजिए, चाहे आप विप्रलम्भ शृंगार कह दीजिए, चाहे शान्त कह दीजिए, इन तीनों में परस्पर भेद कैसे सिद्ध होगा? हो सकता है कि शान्त में शायद थोड़ा-बहुत भेद, अन्य दो की अपेक्षा दिखाई दे जाए, लेकिन वह जो भी भेद हम करेंगे, वह बहुत कुछ आश्रयनिष्ठ (सब्जेक्टिव) होगा। हमारे पास कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे कि हम विषयनिष्ठ होकर यह निर्णय कर दें कि हाँ यह रस है। क्योंकि रस के लिए जो प्रक्रिया चाहिए, उस प्रक्रिया के लिए हमारे पास कोई गुंजाइश नहीं है। यह कोई दोष नहीं है, दोष की कोई बात ही नहीं है। ऐसा संगीत तो नाट्यशास्त्र में भी वर्णित है कि जिसको हम कोई रस का 'लेबल' नहीं लगाएँगे, वह कहता ही है कि उसको चाहे सुकुमार कहो या उद्धत कहो, बस ठीक है। उसमें हम माधुर्य कह लें या ओजस् कह लें, यह तो हो सकता है, बहुत कुछ सम्भव है, लेकिन इसके आगे जा कर सारे रसों के नाम देना, जो कि नाट्य में से आये हैं, बहुत ही कठिन है।

एक निवेदन इस प्रसंग में करना था। मैंने अपने गुरुजी की जो चर्चा की, वह इसलिए की कि वे बहुत सशक्त और समर्थ कलाकार थे। फिर भी एक सेतु निर्माण के लिए कभी-कभी वे प्रयोग से पहले और कभी-कभी प्रयोग के बीच में भी कुछ-न-कुछ बोलते थे और वह बोलना जरूरी हो जाता था क्योंकि नहीं तो आखिर सेतु बने कैसे। बहुत से लोग इस बात के लिए उनकी आलोचना भी करते थे। वे ऐसे लोग थे जो यह समझते थे कि इस सबकी संगीत में क्या जरूरत है, लेकिन उनकी जो समस्या थी वह मेरी समझ में आती है कि क्यों उनको बोलना पड़ता रहा होगा। इसीलिए बोलना पड़ता था कि वे यह चाहते थे कि एक वातावरण का निर्माण हो। जो सोचकर हम गा रहे हैं, उसको श्रोता भी जानें और इसकी व्यवस्था रागध्यान में थी। वह तो अब है नहीं, तो इसलिए यदि प्रयोक्ता कुछ सोच कर गा रहा है तो या तो वह लिख कर बाँट दे लोगों में, या बोलकर कहे, कुछ तो करे, तब कुछ हो सकता है। यदि कुछ भी न करे तो फिर ठीक है। फिर भी कुछ तो होगा, यह नहीं कि आपके चित्त पर प्रभाव नहीं होगा। सो तो होगा, जो होना है होगा, लेकिन उसको नाम देना, उसको एक 'लेबल' दे देना यह बड़ा मुश्किल होगा। यह आज के संगीत की स्थिति है। इसमें संगीत की पूरी 'ऑटोनॉमी' है, पूरी स्वायत्तता है। अब जबस्वायत्तता होती है, वह जब 'स्वयं रंजन'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर रहा है, जब वह नाट्य के अंगभूत होकर उसका उपरंजन नहीं कर रहा है, तब सारी की सारी बात बदल जाती है। यह विनियोग की बात रागों में भी बाद में काफी चलती रही, यों तो चलने को १७वीं शताब्दी तक चलती रही, लेकिन उसमें क्या था कि पहले तो जो ग्रामरागों का निरूपण था, बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक, वे ग्रामराग तो निश्चित रूप से नाट्य के साथ जुड़े हुए थे, इसलिए उनमें कोई समस्या नहीं थी। हर ग्रामराग के निरूपण में नाट्य की स्थिति भी बता दी है। प्रवेश के समय यह गाया जाय या अमुक प्रसंग में गाया जाय, यह सब था। तो वे नाट्य के साथ जुड़े हुए थे। जब देशी राग आये, तो देशी रागों के साथ-ही-साथ ध्यान की पद्धति आ गयी। यह भी एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक घटना है और उसका मार्मिक कारण मुझे यही लगता है कि नाट्य से स्वतन्त्र जो संगीत है, उसको जो थोड़ा-सा सहारा चाहिए किसी अवस्था के निरूपण के लिए, वह सहारा ध्यान दे देता था। अब वह भी सहारा हमने छोड़ दिया, ठीक है, बहुत अच्छी बात है, और भी अधिक 'ऑटोनॉमस' हो गये। बिल्कुल स्वायत्त हो गये, अच्छा है, कोई बुरा नहीं है, लेकिन स्वायत्त होने से हम पूरे के पूरे अपने धरातल को बदल ले रहे हैं और फिर भी एक भिन्न धरातल की शब्दावलि का अगर प्रयोग करें, तो वह बड़ा मनमाना प्रयोग हो जाता है, उसका कोई हमारे पास बहुत तर्क-संगत, युक्ति-संगत आधार नहीं बचता है, यह निवेदन मैं अवश्य करना चाहती हूँ। हमेशा जहाँ भी मुझे अवसर मिलता है, करती रहती हूँ। अपने पढ़ाने में भी वर्षों से करती चली आयी हूँ।

अब मैं समझती हूँ कि इससे अधिक कहने को कुछ नहीं है। मैंने यह कहा कि ग्रन्थों में तो रागों के साथ रसों का नाम १७वीं शताब्दी तक चला आया है किसी-न-किसी रूप में, पर उस समय तक अधिकांश ग्रन्थों में रागध्यान आ गये थे। यह भी ठीक है कि तेरहवीं शताब्दी के बाद जो ग्रन्थ आये, खासतौर से पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं और सत्रहवीं में बहुत अधिक ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनमें जो मेल पद्धति को लेकर चलने वाले ग्रन्थ हैं उनमें से भी कुछ ने रागध्यान दिए हैं, और कुछ ने नहीं दिए है। राग-रागिणी वालों ने तो दिए ही हैं। इसलिए यह कह सकते हैं कि १६वीं-१७वीं शताब्दी के ग्रन्थों में से करीब-करीब ६०-६५ प्रतिशत ने रागध्यान की पद्धति को जरूर अपनाया था। आज वह पद्धति भी लुप्त है, हम केवल राग के स्वर-रूप को लेकर चलते हैं। यह ठीक है कि हर स्वर-रूप का अपना प्रभाव होता है, लेकिन उस प्रभाव को आंकने के लिए या उसका एक आकलन करने के लिए कि वह कैसा प्रभाव था हमारे चित्त पर, हम किस भाषा का सहारा लें? उसको क्या नाम दें? उसके लिए यह जो गुण का सिद्धान्त है, माधुर्य और ओज का सिद्धान्त है, यह बहुत उपयोगी हो सकता है या उसको सुकुमार और उद्धत कह लें। यह बहुत ही प्रभावशाली हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकता है।

मैं सोचती हूँ कि अब इस समय इससे अधिक और कुछ न कहूँ, वही ठीक है। कल पल्लव की बात है। पल्लव के रूप में मैं उस सारे चिन्तन को देखना चाहती हूँ जो कि साहित्यशास्त्र में हुआ है, जिसको कि हम ध्वनि-सिद्धान्त के नाम से जानते हैं, जिसमें कि रस को केन्द्र में रखा गया है, लेकिन उसकी सारी प्रक्रिया को बहुत ही संक्षिप्त कर दिया गया है। पहले मान्यता यह थी कि रस के परिपाक के लिए प्रबन्ध-काव्य की आवश्यकता है, उसको लाकर के मुक्तक में प्रतिष्ठापित किया है ध्वनि-सिद्धान्त ने। यह जो घटना है साहित्य-शास्त्र की, यह संगीत से भी बहुत जुड़ी है, इसकी चर्चा मैं कल करूँगी।

अनुबन्ध

(क) छन्द, अलंकार आदि का रसाधारित विनियोग

एवमेते ह्यलंकारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः।
प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रससंश्रयम् ॥
लघ्वक्षरप्रायकृतमुपमारूपकाश्रयम्।
काव्यं कार्यं तु नाट्यज्ञैर्वीररौद्राद्भुताश्रयम् ॥
गुर्वक्षरप्रायकृतं वीभत्से करुणे तथा।
कदाचिद्वीररौद्राभ्यां यदा घर्षणजं भवेत्।
रूपदीपकसंयुक्तमार्यावृत्तसमाश्रयम्।
श्रृंगारे तु रसे कार्यं मृदुवृत्तं तथैव च ॥
उत्तरोत्तरसंयुक्तं वीरे पाठ्यं तु यद्भवेत्।
जगत्यातिजगत्या तु संकृत्या चैव योजयेत् ॥
यद्वीरे कीर्तितं छन्दस्तद्रौद्रेऽपि प्रयोजयेत्।
शेषाणामर्थयोगेन छन्दः कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥

(ना०शा० १६ ११३-१६)

इस प्रकार ये अलंकार, गुण और दोष कहे गए। अब इनका रसाश्रित प्रयोग कहूँगा। वीर-रौद्र-अद्भुत रसों के आश्रित काव्य को, नाट्यज्ञों द्वारा, लघु-अक्षर-प्रधान और उपमा-रूपक अलंकारों से युक्त बनाया जाना चाहिए। वीभत्स और करुण में गुरु-अक्षर-प्रधान (काव्य रखना चाहिए) कभी-कभी वीर-रौद्र में भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(गुरु अक्षर प्रधान काव्य रहेगा) जबकि 'धर्षण' (विलम्बित गति में 'अरिपक्ष' की दुष्टता का स्मरण करते-करते जब वचन प्रयोग होता है) से जनित (प्रसंग) हो। श्रृंगार रस में रूपक-दीपक (अलंकारों) से युक्त, आर्या वृत्ताश्रित और मृदु-वृत्त वाला (काव्य) करना चाहिए। उत्तरोत्तर संयुक्त अर्थात् एक से एक बढ़-चढ़ कर जब वीर-रस में (पात्रों का) पाठ्य होता है, तब जगती, अतिजगती और शक्वरी (प्रत्येक पाद में क्रमशः १२, १३ और १४ अक्षरों वाले छन्द) की योजना करना चाहिए। युद्ध और संफेट (क्रोध-पूर्ण संघर्ष) में तज्ज्ञों द्वारा उत्कृति (प्रत्येक पाद में २६ अक्षरों वाला छन्द) कही गई है। करुण में शक्वरी (१४ अक्षर) और अतिधृति (१९ अक्षर) हो। वीर में जो छन्द कहा गया है, वह रौद्र में भी प्रयुक्त होना चाहिए। शेष (रसों) में अर्थ के अनुसार, प्रयोक्ताओं को छन्द रखना चाहिए।

(अभिनवगुप्तपाद ने इस प्रसंग में दो बढ़िया शब्द दिये हैं। लघु अक्षरों का प्राधान्य वहाँ होगा जहाँ अतनुवाही अर्थात् अमृदु या प्रबल या ऊबड़खाबड़ रूप से बहने वाला चित्तवृत्ति का परिस्पन्द हो और गुरु अक्षरों का प्राधान्य वहाँ होगा जहाँ मसृण या मृदु या सम रूप से बहने वाला हृदय-स्पन्द हो। यहाँ ओजस् और माधुर्य के समकक्ष क्रमशः 'अतनु' और 'मसृण' शब्द और उनका चित्तवृत्ति के स्पन्द-प्रवाह के साथ योग अत्यन्त मार्मिक है)।

(ख) सप्तस्वरों का रसाधारित विनियोग

सप्तस्वरा नाम—षड्जर्षभगान्धारमध्यम—पंचम-धैवतनिषादाः।
त एते रसेषूपपाद्याः।

हास्यश्रृंगारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपंचमौ ॥
षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेष्वथ।
गान्धारश्च निषादश्च कर्तव्यौ करुणे रसे।
धैवतश्चैव कर्तव्यो बीभत्से सभयानके।

(ना० शा० १७, पृ० ३८६, श्लो० १०३, गद्य-१०५ कख)

अत्र हास्यश्रृंगारयोरित्यादिना जात्यंशकविनियोगं भविष्यन्तमनुवदंस्तत्तत्-स्थायि-स्वरानुसारेण काकोः प्रयोग इति दर्शयति।

(अभिनवभारती, पृ० ३८७)

सात स्वर हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद। इन (स्वरों) का रसों में उपपादन करना चाहिए।

हास्य-श्रृंगार में मध्यम-पंचम स्वरों को 'करना' चाहिए, उसी प्रकार वीर-रौद्र-अद्भुत में षड्ज-ऋषभ, करुण रस में निषाद और गान्धार और बीभत्स-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भयानक में धैवत (को 'करना' चाहिए)।

(हास्य-शृंगार इत्यादि रसों में स्वरों का यह जो विनियोग कहा गया है, उसमें आगे चलकर २८-२९ अध्याय में जातियों का अंशस्वर के अनुसार जो विनियोग कहा जाएगा, उसका 'अनुवाद' है। अर्थात् इन स्वरों का अकेले-अकेले विनियोग का प्रश्न नहीं है, ये जब जातियों अर्थात् विशिष्ट स्वर—सन्निवेशों में 'अंश' या आधार स्वर बनेंगे, तभी विनियोग सार्थक होगा। इन अंशों को ही स्थायी स्वर भी कहा है। तदनुसार 'काकु' का प्रयोग होगा)।

(ग) पाठ्यगत वर्णों, अलंकारों आदि का रसाधारित विनियोग

चार वर्ण :

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा।
वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठ्ययोगे तपोधनाः॥

तत्र हास्यशृंगारयोः स्वरितोदात्तैर्वर्णैः पाठ्यमुपपाद्य, वीररौद्राद्भुतेषू-दात्तकम्पितैः करुणवीभत्स-भयानकेष्वनुदात्तस्वरितकम्पितैरिति।

(ना० शा० १७, श्लो० १०९, पृ० ३६०-६१)

उच्चता नीचता मध्यमता उच्चनीचोभय-डोलावलम्बनमिति चत्वारः स्वर-धर्माः। वर्णा गुणा यदि वा पाठ्यक्रियाविस्तारका विवृण्वते प्रकटयन्ति स्वार्थ-विशेपमिति वा।...

एषां वर्णानां विषयमाह—हास्यशृंगारयोरित्यादि। मध्यमपंचमावित्यादौ प्रकरणे यथासंख्यं न विवक्षितमित्येवं हास्ये मध्यमायाः पंचम्या वा जातेः स्थायिस्वरत्वं गृहीत्वा तत्रैवोच्चमध्यमस्थानस्पर्शेन पठेत्। एवं शृंगारे वीरा-दिषु त्रिषु षाड्ज्या आर्षभ्या वा स्वांशं गृहीत्वा तत्रैवोदात्तकम्पितैः पाठः। करुणे निषादवत्या गान्धार्या वा स्थायिनमालम्ब्यानुदात्तेन पाठः, वीभत्से धैवत्यंशस्वराश्रयेण स्वरितकृतः (पाठः)। भयानके तत्स्वरावलम्बनेनैव (धैवतांश) कम्पितप्रधानः (पाठः)। इत्येवं भविष्यत् (अ० २९) जाति-विनियोगानुसारि-स्वरानुवादेन वर्णेषूदात्तादिषु तात्पर्यं, न तु स्वरेषु।

(अभिनव भारती, वही)

चार वर्ण : उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित, ये चार वर्ण 'पाठ्य योग' में (होते हैं)। (भरत द्वारा मुनियों को बहुवचन में 'तपोधन' संबोधन है)।

हास्य-शृंगार में स्वरित-उदात्त वर्णों द्वारा पाठ्य का उपपादन होना चाहिए, वीर-रौद्र-अद्‌भुत में उदात्त-कम्पित (वर्णों) द्वारा, करुण—वीभत्स-भयानक में अनुदात्त-स्वरित-कम्पित (वर्णों) द्वारा (पाठ्य होना चाहिए)।

उच्चता, नीचता, मध्यमता और उच्च-नीच-उभयडोल अर्थात् दोनों के बीच

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आन्दोलन की स्थिति (कम्प), इस प्रकार चार स्वर धर्म हैं। वर्ण—अर्थात् गुण अथवा पाठ-क्रिया का जो विवरण या विस्तार करते हैं, वे 'वर्ण' हैं, या जो अपने अर्थ-विशेष को प्रकट करते हैं (वे वर्ण हैं)।

इन वर्णों के विषय को कहा है—'हास्य-शृंगार' इत्यादि के द्वारा। जब मध्यम-पंचम आदि स्वरों का रसों में विनियोग वताया गया था, तब मध्यम-पंचम को हास्य-शृंगार में यथाक्रम नहीं कहा गया यानी यह नहीं कहा गया कि हास्य में मध्यम और शृंगार में पंचम रहेगा। इसलिए मध्यमा अथवा पंचमी जाति के स्थायी स्वर को पकड़कर वहीं पर उच्च (दीप्त) और मध्यम (स्वरित) स्थान-स्पर्श से पाठ करना चाहिए। ऐसे ही शृंगार में भी। वीरादि तीन रसों में षाड्जी या आर्षभी (जाति) के स्वांश को पकड़कर वहीं पर उदात्त-कम्पित वर्णों से पाठ (होगा), करुण में निषादवती या गान्धारी के स्थायी (अंश) स्वर का अवलम्बन लेकर अनुदात्त (वर्ण) से पाठ (होगा), वीभत्स में धैवती जाति के अंश स्वर के आश्रय से स्वरित वर्ण-कृत पाठ (होगा)। इस प्रकार आगे चलकर (अ० २९ में) जो जाति-विनियोग कहा जाएगा, उसके अनुसार स्वरों के अनुवाद से उदात्तादि वर्णों में तात्पर्य है, न कि स्वरों में।

अलंकार

अथ षडलंकारा नाम

उच्चो दीप्तश्च मन्द्रश्च नीचो द्रुतविलम्बितौ।
पाठ्यस्यैते ह्यलंकारा लक्षणं च निबोधत॥

उच्चो नाम शिरःस्थानगतस्तारस्वरः स च दूरस्थाभाषणविस्मयोत्तरोत्तर-संजल्प-दूराह्वान-त्रासनाबाधाद्येषु। दीप्तो नाम शिरःस्थानगतस्तारतरः, स चाक्षेपकलहविवादामर्षक्रुष्टाधर्षणक्रोधशौर्यदर्पतीक्ष्णरूक्षाभिधाननिर्भर्त्सना-क्रन्दितादिषु। मन्द्रो नाम उरःस्थानगतो निर्वेदग्लानि—चिन्तौत्सुक्यदैन्यव्याधि—शमश्रमार्तत्रस्तपतितमूर्छितादिषु।
मन्द्रो नाम उरःस्थानगतो निर्वेदग्लानि-चिन्तौत्सुक्यदैन्यव्याधि-क्री(व्री?)डा-गाठशस्त्रक्षत-मूर्छा-मद-गुह्यार्थ-वचनादिषु। नीचो नाम उरःस्थानस्थो मन्द्रतरः, स च स्वाभावा-भाषण-व्याधि-शम-श्रमार्त-त्रस्त-पतित मूर्छितादिषु। द्रुतो नाम कण्ठगतः, स च त्वरितः, लल्लनमन्मन-भयशीतज्वर-त्रासायस्ता-त्ययिककार्यविदनादिषु। विलम्बितो नाम कण्ठ (उरः?)-स्थानगतस्त्वनुमन्द्रः, स च शृंगारकरुणवितर्कित-विचारामर्षासूयिताव्यक्तार्थ-प्रवादलज्जाचिन्ता(ऽ)र्जन-विस्मयदोषानुकीर्तनदीर्घरोगनिपीडनादिषु। अत्रानुवंश्याः श्लोका भवन्ति—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्तरोत्तरसंजल्पपरुषाक्षेपणेषु च ।
तीक्ष्णरुक्षाभिनयने आवेगे क्रन्दिते तथा ।।
परोक्षस्य समाह्वाने तर्जने त्रासने तथा ।
दूरस्थाऽभापणे चैव तथा निर्भर्त्सनेषु च ।।
भावेष्वेतेषु नित्यं हि नानारससमाश्रया ।
उच्चा दीप्ता द्रुता चैव काकुःकार्या प्रयोक्तृभिः ।।
व्याधिते च ज्वरार्ते च श्रमार्ते शीतविप्लुते ।
नियमस्थे वितर्के च गाढशस्त्रक्षतेषु च ।।
गुह्यार्थवचने चैव चिन्तायां तपसि स्थिते ।
मन्द्रा नीचा च कर्तव्या काकुर्नाट्यप्रयोक्तृभिः ।।
लल्ले च मन्मने चैव भयार्ते शीतविलुप्ते ।
मन्द्रा द्रुता च कर्तव्या काकुर्नाट्यप्रक्योतृभिः ।।
दृष्टनष्टानुसरणे इष्टानिष्टश्रुते तथा ।
इष्टार्थख्यापने चैव चिन्ताध्याने तथैव च ।।
उन्मादेऽसूयिते चैव उपालम्भे तथैव च ।
अव्यक्तार्थप्रवादे च कथायोगे तथैव च ।।
उत्तरोत्तरसंजल्पे कार्येऽतिशयसंयुते ।
विकृते व्याधिते क्रोधे दुःखे शोके तथैव च ।।
विस्मयामर्षयोश्चैव प्रहर्षे परिदेविते ।
विलम्बिता च दीप्ता च काकुर्मन्द्रा च वै भवेत् ।।
लघ्वक्षरप्रायकृते गुर्वक्षरकृते तथा ।
उच्चा दीप्ता च कर्तव्या काकुस्तत्र प्रयोक्तृभिः ।।
यानि सौम्यार्थयुक्तानि सुखभावकृतानि च ।
मन्द्रा विलम्बिता चैव तत्र काकुर्विधीयते ।।
यानि स्युस्तीक्ष्णरूपाणि दीप्ता चोच्चा च तेष्वपि ।
एवं नानाश्रयोपेतं पाठ्यं योज्यं प्रयोक्तृभिः ।।
हास्यश्रृंगारकरुणेष्विष्टा काकुर्विलम्बिता ।
वीररौद्राद्भुतेषूच्चा दीप्ता वापि प्रशस्यते ।।
भयानके सबीभत्से द्रुता नीचा च कीर्तिता ।
एवं भावरसोपेता काकुः कार्या प्रयोक्तृभिः ।।

(ना०शा० १७ ११३, पृ० ३९२-९४, श्लो०११५-२९)

अलं पर्याप्तं काकोः स्वरूपं येन संपाद्यते सोऽलंकारः। तत्स्वरूपं च स्थान-त्रयस्य प्रत्येक-मूर्ध्वाधोमध्यकल्पनया उदात्तानुदात्त-स्वरित-कम्पितनिर्वाहात्। तत्र मध्यो भागस्तावदनावेशे सर्वत्र स्थित एव। इत्यावेशेनोर्ध्वमधरं वा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्थानत्रयस्य प्रत्येकमवलम्ब्यत इति षड्लंकारा भवन्ति। तत्र शिरस्यधोभागे तार उच्यते। दूरस्थाभाषणादौ, स विषयोऽत्र स्वरकाकोरित्युक्तम्। विस्मयावगतौ तु सैव रसकाकुः, परस्य त्रासनाभिप्रायेण तु सैव विभावकाकुः। स्वरकाकोरेव श्रुतिकाकुश्चेति भेदेन शिरस्येव ऊर्ध्वस्तारतम आक्षेपादौ, तारशब्दःप्रकर्षोपलक्षणम्। अत्र ह्याक्षेपादौ यथावस्थं श्रुति-विभाव-रसकाकु-भेदत्रयं विभजनीयम्। उरस्यूर्ध्वभागे स मन्द्रः उरस्येव नीचभागे मन्द्रतमो नीचः। दैन्ये काकुर्द्विरूपतामेति स्वचित्तवृत्त्यर्पणाद्रसकाकुः, परस्य रूपोत्पादनाद् विभावककाकुः।

(वही, अभिनव-भारती, पृ० ३९२-९३)

छह् अलंकार इस प्रकार हैं :

उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत और विलम्बित, ये पाठ्य के अलंकार हैं, अव इनके लक्षण जान लें।

उच्च शिरः स्थानगत तार स्वर है और वह दूरस्थ (व्यक्ति) के साथ आभाषण, विस्मय, उत्तरोत्तर (एक-से-एक बढ़-चढ़ कर) संजल्प (वातचीत), दूराह्वान, त्रासन (डराना), आवाध (सताना, कष्ट) आदि में (प्रयुक्त होगा)।

दीप्त शिरःस्थानगत तारतर है। वह आक्षेप (फटकार, अवज्ञा) कलह, विवाद, अमर्ष, क्रुष्ट (चिल्लाहट) आधर्षण (आक्रमण, तिरस्कार), क्रोध, शौर्य, दर्प, तीक्ष्ण-रूक्ष-अभिधान (तीखी रूखी वातचीत) निर्भर्त्सन (डाँट-फटकार) आक्रन्दित (रोना-चिल्लाना) आदि में (प्रयुक्त होगा)।

मन्द्र उरःस्थानगत है। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, दैन्य, व्याधि, क्रीडा, गाढ़ शस्त्रक्षत, मूर्छा, मद, गुह्यार्थ-वचनादि में (प्रयुक्त होगा)।

नीच उरः स्थानगत मन्द्रतर है और वह स्वभाव आभाषण, व्याधि, शम, श्रमार्त, त्रस्त, पतित, मूर्छित आदि में (प्रयुक्त होगा)।

द्रुत कण्ठगत है और वह त्वरित, लल्लन (लाड़-दुलार) मन्मन (अव्यक्त गुनगुनाहट अथवा नायिका का बालवत् सांत्वन या पुचकार), भय, शीत, ज्वर, त्रास, आयस्त (आवेग या थकान), आत्ययिक (बहुत जल्दी के) कार्य के निवेदन आदि में (प्रयुक्त होगा)।

विलम्बित कण्ठ (उरः ?) स्थानगत अनुमन्द्र है और वह श्रृंगार, करुण, वितर्कित, विचार, अमर्ष, असूयित, अव्यक्त अर्थ, प्रवाद, लज्जा, चिन्ता, अतर्जन, विस्मय, दोषानुकीर्तन, दीर्घरोग, निपीडनादि में (प्रयुक्त होगा)।

यहाँ आनुवंश्य श्लोक हैं :

उत्तरोत्तर संजल्प, परुष (कठोर) आक्षेपण, तीक्ष्ण, रूक्ष अभिनय, आवेग, क्रन्दित, परोक्ष का आह्वान, तर्जन, त्रासन, दूरस्थ के साथ आभाषण तथा निर्भर्त्सन इन भावों में नित्य ही नाना-रस-समाश्रया, उच्चा दीप्ता तथा द्रुता काकु प्रयोक्ताओं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को करनी चाहिए।

व्याधित, ज्वरार्त, भयार्त, शीतविप्लुत, नियमस्थ (नियम या व्रत-धारण की अवस्था) वितर्क, गाढ़ शास्त्र क्षत, गुह्यार्थ वचन, चिन्ता तथा तप में स्थित रहने पर मन्द्रा नीचा काकु नाट्य-प्रयोक्ताओं को करनी चाहिए।

लल्ल (लाड़) मन्मन (अव्यक्त गुनगुनाहट) भयार्त, शीतविप्लुत (आदि) में मन्द्रा और अद्रुता काकु नाट्य-प्रयोक्ताओं को करनी चाहिए।

दृष्ट नष्ट के अनुसरण में, इष्ट अथवा अनिष्ट के श्रवण में, इष्ट अर्थ के ख्यापन (कहने) में, चिन्ता, ध्यान में, उन्माद और असूयित में, उपालम्भ में, अव्यक्तार्थ प्रवाद में, कथायोग में, उत्तरोत्तर संजल्प में, अतिशय—(असामान्य) संयुत कार्य में, विकृत, व्याधित, क्रोध, दुःख, शोक में, विस्मय और अमर्ष में, प्रहर्ष, परिदेवित (विलखने) में विलम्विता, दीप्ता और मन्द्रा काकु रहे।

लघ्वक्षर-प्रधान तथा गुर्वक्षर-कृत (काव्य यानी पाठ्य) में उच्चा, दीप्ता काकु करनी चाहिए।

जो सौम्यार्थ-युक्त और सुखभावकृत (पाठ्य) हैं, वहाँ मन्द्रा और विलम्विता काकु करनी चाहिए।

जो तीक्ष्णरूप (पाठ्य) हैं, उनमें दीप्ता और उच्चा (काकु होनी चाहिए)।

हास्य, शृंगार, करुण रसों में विलम्विता काकु इष्ट है, वीर, रौद्र, अद्भुत में उच्चा अथवा दीप्ता (काकु) प्रशस्त है, भयानक और बीभत्स में द्रुता और नीचा (काकु) कही गई है। इस प्रकार भावरसोपेता काकु प्रयोक्ताओं को करनी चाहिए।

जिसके द्वारा काकु का स्वरूप 'अलं' अर्थात् पर्याप्त बनाया जाता है, वह अलंकार है। उसका स्वरूप तीन स्थानों में से प्रत्येक में ऊर्ध्व, अधः, मध्यम की कल्पना से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कम्पित (वर्णों) के निर्वाह से (बनता) है। उनमें से मध्य भाग अनावेश अवस्था में सर्वत्र स्थित ही है। आवेश से ऊर्ध्व अथवा अधः का तीनों स्थानों में से प्रत्येक में अवलम्बन लिया जाता है, इस प्रकार छह अलंकार होते हैं। शिर के अधोभाग में तार कहा जाता है। दूरस्थ आभाषण आदि में (उसका प्रयोग है) यह स्वर-काकु का विषय है, ऐसा कहा गया है। विस्मय के प्रसंग में वही रसकाकु है, दूसरे को डराने के अभिप्राय से वही विभाव-काकु है। स्वरकाकु का ही श्रुतिकाकु ऐसा भेद होने से शिर के ऊर्ध्वभाग में तारतम (तारतर ?) है (जो कि) आक्षेप आदि में (होता है)। तार शब्द प्रकर्ष का उपलक्षण है। यहाँ आक्षेपादि में अवस्था के अनुसार श्रुतिकाकु, विभाव-काकु, रसकाकु ऐसे तीन भेदों का विभाजन करना चाहिए। उरस् के ऊर्ध्व भाग में मन्द्र और नीच भाग में मन्द्रतम (मन्द्रतर ?) नीच (काकु) है। दैन्य में काकु दो रूपों को प्राप्त होती है। अपनी चित्तवृत्ति के अर्पण से रसकाकु, दूसरे में उसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्पादन से विभावकाकु होती है।

अंग

अथांगानि षट् विच्छेदोऽर्पणं विसर्गोऽनुबन्धो दीपनं प्रशमनमिति। तत्र विच्छेदो नाम विरामकृतः। अर्पणं नाम लीलायमानमधुरवल्गुना स्वरेण पूरयतेव रंगे यत्पठ्यते तदर्पणम्। विसर्गो नाम वाक्यन्यासः। अनुबन्धो नाम पदान्तरेष्वपि (अ) विच्छेदः, अनुच्छ्वसनं वा। दीपनं नाम त्रिस्थानशोभि वर्धमानस्वरं चेति। प्रशमनं नाम तारगतानां स्वराणां प्रशाम्यतामवैस्वर्येणावतरणमिति। एषां च रसगतः प्रयोगः तत्र हास्यशृंगारयोराकांक्षायामर्पणविच्छेद-दीपन-प्रशमन-युक्तं पाठ्यं कार्यम्। दीपनप्रशमनयुक्तं करुणे। विच्छेदप्रशमनदीपनानुबन्धबहुलं वीररौद्राद्भुतेषु विसर्गविच्छेदयुक्तं बीभत्सभयानकयोरिति सर्वेषामप्येषां मन्द्रमध्यतारकृतः प्रयोगस्त्रिस्थानगतः। तत्र दूरस्थाभाषणे तारं शिरसा, नातिदूरे मध्ये कण्ठेन, पार्श्वतो मन्द्रमुरसा प्रयोजयेत् पाठ्यमिति मन्द्रात्तारं न गच्छेत्, तारादृवा मन्द्रमिति।
एषां च द्रुतमध्यविलम्बितास्त्रयो लया रसेषूपपाद्याः। तत्र हास्यशृंगारयोर्मध्यलयः, करुणे विलम्बितो, वीररौद्राद्भुतबीभत्सभयानकेषु।

(ना० शा० १७, पृ० १६६-६८)

अंग : अब छह अंग हैं—विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबन्ध, दीपन और प्रशमन।

विच्छेद विरामकृत है। जो पाठ लीलायमान मधुर, वल्गु (मनोहर) स्वर से रंग को भरता हुआ-सा चलता है, वह अर्पण है। विसर्ग यानी वाक्यन्यास। अनुबन्ध है पदान्तरों (एक पद और दूसरे पद के बीच) में भी विच्छेद का अभाव अथवा अनुच्छ्वसन यानी साँस का न टूटना। दीपन है तीनों स्थानों में शोभा पाने वाला बढ़ता (ऊपर चढ़ता) हुआ स्वर। प्रशमन है तारगत स्वरों का प्रशमित होता हुआ अवैस्वर्य से (बेसुरा हुए बिना) अवतरण। इनका रसगत उपयोग इस प्रकार है—हास्य-शृंगार की आकांक्षा में अर्पण, विच्छेद, दीपन प्रशमन-युक्त पाठ्य करना चाहिए। करुण में दीपन-प्रशमन-युक्त, वीर-रौद्र अद्भुत में विच्छेद-प्रशमन-दीपन-अनुबन्ध-बहुल, बीभत्स-भयानक में विसर्ग-विच्छेद-युक्त (पाठ्य करना चाहिए)। इन सबका मन्द्र-मध्य-तार-कृत त्रिस्थानगत प्रयोग है। इनमें से दूरस्थाभाषण में सिर से तार, नातिदूर (के प्रसंग में) कण्ठ से मध्य, पार्श्व में उरस् से मन्द्र पाठ्य का प्रयोग करना चाहिए। मन्द्र से तार में न जाए, तार से मन्द्र में भी न जाए अर्थात् बीच में मध्य आना ही चाहिए।

इन (अंगों) के द्रुत, मध्य, विलम्बित ये तीन लय रसों में उपपादित करना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चाहिए। हास्य-शृंगार में मध्य लय, करुण में विलम्बित, वीर-रौद्र-अद्‌भुत-बीभत्स-भयानक में द्रुत (लय रहेगा)।

(घ) १. अवनद्ध वाद्यों के अक्षरों की जातियाँ

अष्टादशजातिकमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा :
शुद्धा पुष्करकरणा विषमा विष्कम्पितैकरूपा च ।
पार्ष्णिसमा पर्यस्ता समविषमकृताऽवकीर्णा च ।।
पर्यवसानोच्चितिका संयुक्ता संप्लुता महारम्भा ।
विगतक्रमा विगलिता वंचितिका चैकवाद्या च ।।
एतासां जातीनां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः ।
एकाक्षरकृतं वाद्यं यद्‌भवेत् सार्वमार्गिकम् ।
नित्यं करणयोगेन सा शुद्धा नामतो यथा ।।
धं धंद्रंद्रं क्लाखोखोह्राणेति विहितवाक्या ।
सा शुद्धा विज्ञेया मध्यस्त्रीणां सदा जातिः ।।
स्वस्तिकहस्तविचारा सर्वमृदंगप्रहारसंयुक्ता ।
सा त्रिलयवाद्ययुक्ता पुष्करकरणा भवेज्जातिः ।।
घेंताकेंताखेंतां दीर्घकृतैरक्षरैः कृता या च ।
राज्ञां स्वभावगमने सा विषमा नामतो जातिः ।।
गुरुयुग्मं लघुयुग्मं तोटकं वाऽपि ।
नित्यं यत्र तु वाद्ये विष्कम्भा नाम सा जातिः ।।
वामोर्ध्वंकप्रवृत्तादोघे क्षिप्तावकृष्टलययुक्ता ।
करुणांशप्राया जातिः स्यादेकरूपा तु ।।
धित्यं धिकट् घिधिकटं मटथिकरणैः सपार्ष्णिकृतैः ।
थेक्लेटाघेग्रथिता पार्ष्णिसमा सा भवेज्जातिः ।।
ताद्येंतांतांदोधे दोह्यामित्यक्षरैस्तु संयुक्ता ।
पर्यस्ता जातिरियं मध्यमपुरुषेषु कर्तव्या ।।
कृत्वोपरिपाणिकृतं वाद्यं यद् द्रुतलयं समारूढम् ।
पुनरेव समलयं स्यात् समविषमा सा तु विज्ञेया ।।
अवकीर्णं यद् द्विगुणैस्त्रिगुणैर्वा करणं मृदंगानाम् ।
पणवेषु दर्दुरेष्वव्यवकीर्णा नाम सा जातिः ।।
पर्यवगच्छति पूर्वं यस्मिन् वै प्रस्तुतं करणजातम् ।
त्रिविधेऽपि तु लययोगे पर्यवसाना तु सा जातिः ।।
घेंटांदोट्टणंण्णुणहामेभिः स्यात्त्वक्षरैर्हि सम्बद्धा ।
साम्यार्धे उच्चितिका जातिर्वाद्ये तु बोद्धव्या ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

थंकेटांकैटकिणामेभिर्या त्वक्षरैस्तु संयुक्ता ।
संयुक्तकृता जातिः सा काचेटगतौ विधातव्या ।।
सर्वांगुलिचलन-कृता सर्वमृदंगप्रहारसंयुक्ता ।
भीतनभोयानगतौ संप्लुतजातिर्विधातव्या ।।
अवपाणिकरणयुक्तं कृत्वादौ मध्यलयतुल्यम् ।
वाद्यं द्रुतलयमन्ते जातिः स्यात् सा महारम्भा ।।
ऊर्ध्वांकदक्षिणमुखे क्षिप्तप्रहृता वितस्तमार्गा च ।
अंकोर्ध्वकप्रवृत्ता दक्षिणवामप्रहारजाता च ।।
प्रायेणोद्धतमार्गा वितस्तमार्गाश्रियेण दिव्यानाम् ।
घुंघंधंद्रांप्राया जातिर्विगतक्लमा (क्रमा) नाम ।।
लक्ष्वक्षरभूयिष्ठा विचित्रकरणा च सर्वमार्गेषु ।
वाद्याऽविसर्पिकरणा विगलितनामा तु सा जातिः ।।
करणैर्बहुभिश्चित्रैः सर्वमृदंगप्रहारसंयुक्ता ।
स्वाभाविकोत्तमगतौ वंचितिका सा तु विज्ञेया ।।
धोध्रोध्रेध्रे धोधं एभिर्या त्वक्षरैश्च संयुक्ता ।
सा ह्येकवाद्यजातिर्नृत्तगतिविधानवत् कार्या ।।

(ना० शा० ३४, १४८-१६६)

अठारह जातियाँ हैं—ऐसा जो कहा है, उसकी (अब हम) व्याख्या करेंगे। वे इस प्रकार हैं :

१. शुद्धा, २. पुष्करकरणा, ३. विषमा, ४. विष्कम्भिता, ५. एकरूपा, ६. पार्ष्णिसमा, ७. पर्यस्ता, ८. समविषमकृता, ९. अवकीर्णा, १०. पर्यवसाना, ११. उच्चितिका, १२. संयुक्ता, १३. संप्लुता, १४. महारम्भा, १५. विगतक्रमा, १६. विगलिता, १७. वंचितिका, १८. एकवाद्या।

इन जातियों के लक्षण-निदर्शनों की (हम) व्याख्या करेंगे।

१. जो एकाक्षरकृत वाद्य है, अर्थात् जिस 'वाज' में एकाक्षर की आवृत्ति होती है, जो सार्वमार्गिक है, नित्य करणयोग से वह शुद्धा जाति है। ('करण' से सम्भवतः यहाँ विभिन्न अवनद्ध वाद्यों के युगपत् अथवा बारी-बारी से प्रहारों के संयोग-विशेष अभिप्रेत हैं।) धं धं, द्रं द्रं, क्ला, खो खो, हाण इस प्रकार जिसमें 'वाक्य'-विधान है, वह शुद्धा जाति है, जो सदा मध्यस्त्रियों की है। (मध्यम स्त्रियों की यह जाति है, ऐसे कहने से क्या तात्पर्य है, यह अस्पष्ट है। अभिनवगुप्तपाद ने यहाँ विपरीत लक्षणा बताई है, किन्तु वह भी अस्पष्ट है। इतना-सा अनुमान होता है कि शायद मध्यमा जाति की स्त्रियों की गति में अर्थात् उनकी चाल के साथ इस जाति के 'वाद्य' का प्रयोग अभीष्ट हो)।

२. पुष्करकरणा जाति वह है जिसमें स्वस्तिक हस्त है अर्थात् दाएँ हाथ से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाद्य के बाएँ मुँह पर और बाएँ हाथ से वाद्य के दाएँ मुँह पर प्रहार है, सब प्रकार के मृदंगों के प्रहार से जो युक्त है और जो त्रिलय-वाद्य से युक्त है।

३. जो घें तां, कें तां, खें तां—इस प्रकार दीर्घ-कृत अक्षरों से बनती है और जो राजाओं के स्वभाव-गमन में (प्रयुक्त होती है) वह विषमा नाम की जाति है।

४. दो गुरु, दो लघु अथवा तोटक (दो लघु एक गुरु) नित्य जहाँ वाद्य में हैं, वह विष्कम्भा नाम की जाति है।

५. वाम (और) ऊर्ध्वक (वाम यहाँ शायद ऊर्ध्वक का विशेषण नहीं है, क्योंकि ऊर्ध्वक वादक के दाएँ हाथ पर तथा आलिंग्यक बाएँ हाथ की ओर रहता है) पर जो ओघ (द्रुत लय) में प्रवृत्त है, जो क्षिप्त (?) और अवकृष्ट (विलंबित) लय से युक्त है। वह करुणांश—प्राया जाति एकरूपा है। (यहाँ ओघ से द्रुतलय का इंगित मिलता है और पुनः अवकृष्ट या विलम्बित की बात कही गई है। शायद कभी द्रुत, कभी विलम्बित ऐसा प्रयोग इष्ट हो)।

६. धित्थं, धिकट्, थिंधिकटं मटथि (ऐसे बोलों के) करणों से, जो कि पार्ष्णिकृत हैं अर्थात् जिन में पार्ष्णि से घात है (पार्ष्णि का अर्थ एड़ी प्रसिद्ध है, किन्तु वह यहाँ नहीं हो सकता, क्योंकि पैर की एड़ी से किसी वाद्य में प्रहार नहीं होता। पार्ष्णि का अर्थ पिछला भाग भी है। हाथ का पिछला भाग या तो मणिबन्ध हो सकता है और या ऊपर की 'पीठ') पार्ष्णिसमा जाति होती है।

७. पर्यस्ता जाति वह है, जो थेक्लेटाधे (ऐसे अक्षरों से) ग्रथित है, 'दोट्णाम्' ऐसे अक्षरों से संयुक्त है। इसे मध्यम पुरुषों (की गति के साथ) प्रयुक्त करना चाहिए।

८. समविषमा वह जाति है जिसमें उपरिपाणि (ग्रहविशेष) कृत वाद्यविशेष करके द्रुतलय में आरूढ़ हुआ जाए और फिर पुनः सम (मध्य) लय (वाला वाद्य) हो जाए।

९. अवकीर्णा जाति वह है जिसमें मृदंगों का 'करण' पणवों और दर्दुरों में 'द्विगुण' या त्रिगुण होकर अवकीर्ण (मिला-जुला) रहे। (यहाँ एक वाद्य के बोलों का दुगुन, तिगुन में अन्य वाद्यों में प्रयोग विहित है)।

१०. पर्यवसाना वह जाति है जिसमें पहले प्रस्तुत 'करण' समूह (फिर) तीनों लयों के योग से (प्रस्तुत किया जाता है)।

११. घें टा, दोह्णां, णुणहां—इन अक्षरों से जो संबद्धा है, वह वाद्य में उच्चितिका जाती है, जो साम्यार्ध (के प्रसंग) में होती है। (साम्यार्ध को यों समझ सकते हैं कि जब आंगिक गति के साथ पूरा 'साम्य' न रख कर अर्धसाम्य रखा जाता हो)।

१२. संयुक्ता जाति थं के टां के टकि णां इन अक्षरों से संयुक्त होती है और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसका विधान 'काचेट' (चेट या सेवक-विशेष) की गति में यानी उनकी गति के साथ होता है।

१३. संप्लुता जाति (में) सब अंगुलियों का चलन होता है, सब मृदंग के प्रहारों से वह युक्त है और आकाशयान की भीत गति में इसका विधान होना चाहिए (अर्थात् आकाशयान की गति से जुड़ी हुई भीति का भी यहाँ इंगित है)।

१४. महारम्भा जाति वह है जिसमें आरम्भ में अवपाणि (ग्रहविशेष) में करण करके फिर अन्त में द्रुतलय में 'वाद्य' किया जाता है।

१५. विगतक्रमा जाति वह है जिसमें ऊर्ध्वक (पर) और आंकिक के दक्षिण मुख पर 'क्षिप्त' प्रहार होता है, वितस्तमार्ग है, अंक (आंकिक) और ऊर्ध्वक पर जो प्रवृत्त है, दक्षिण (ऊर्ध्वक) वाम (आलिंग्यक) और (आंकिक) पर प्रहार से जो बनती है, प्रायः जिसका उद्धत मार्ग है, जो दिव्य (पात्रों) के (प्रसंग में) वितस्त-मार्गाश्रिता है, घुं घं धं द्रां अक्षर जिसमें प्रायः (प्रधान) हैं।

(वाद्य में चार मार्ग कहे गये हैं—आलिप्त, अंकित, गोमुख और वितस्त। ये मार्ग त्रिपुष्कर अर्थात् ऊर्ध्वक, आलिंग्यक और आंकिक के अकेले-अकेले अथवा मिले-जुले वादन के प्रकार-भेद हैं। वितस्तमार्ग में ऊर्ध्वक पर और आंकिक के दक्षिणमुख पर प्रहार होता है)।

१६. विगलिता नाम की जाति वह है, जिसमें लघु अक्षर भूयिष्ठ हैं, विचित्र (नाना प्रकार के) करण हैं, सब मार्गों में जिसका वादन होता है, जो अविसर्पिकरणा (पुनरुक्त न होने वाले करणों से युक्त) है।

१७. वंचितिका (जाति) वह है जिसमें बहु 'चित्र' करण हैं, सब मृदंगों पर प्रहार है, और उत्तम (पात्र) की स्वाभाविक गति में (जिसका विनियोग) है।

१८. ध्रो ध्रो ध्रे ध्रे धो धं अक्षरों से जो युक्त है, वह एकवाद्या जाति है, जिसमें नृत्तगति-विधानवत् अर्थात् एक अक्षर, फिर अन्य अक्षर से संयोग फिर अन्य अक्षर से संयोग—इस प्रकार नृत्तगति के साथ विधान (चलता है)।

(इन अठारह जातियों में विशेष अक्षरों का सन्निवेशक्रम, त्रिपुष्कर में से किसी का अकेले अथवा दो-तीन का संयुक्त वादन, प्रहारों के प्रकार, लघु-गुरु प्रहारों का विशेष सन्निवेश इत्यादि के आधार पर वाद्य के वैशिष्ट्य का निरूपण है।)

२. वाद्य के मार्गों का रसाधारित विनियोग

शृंगारहास्ययोगे वाद्य योज्यं तथाऽड्डिते मार्गे।
वीराद्भुतरौद्राणां वितस्तमार्गेण वाद्यं तु॥
करुणरसेऽपि हि वाद्यं योज्यं ह्यालिप्तकरणमार्गे तु।
बीभत्सभयानकयोस्तथैव नित्यं हि गोमुख्याम्॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रसभावसत्त्वयोगं दृष्ट्वाभिनयं गतिप्रचारांश्च ।
वाद्यं नित्यं कार्यं यथायथं वाद्यवृत्तयोगज्ञैः ।।
(ना० शा० ३४ ६३-६५)

शृंगार-हास्य के योग (प्रसंग) में अड्डित मार्ग में वाद्य की योजना करना चाहिए, वीर-अद्भुत-रौद्र (रसों) का 'वाद्य' वितस्तमार्ग से करना चाहिए। करुण रस में आलिप्त-करण-मार्ग में वाद्य करना चाहिए, वीभत्स-भयानक में उसी प्रकार नित्य गोमुखी मार्ग में (वाद्य करना चाहिए)। रस, भाव, सत्त्व के योग को, अभिनय को और गतिप्रचारों को देखकर यथायोग्य वाद्य नित्य ही वाद्य-वृत्त के योगज्ञों को करना चाहिए। (चार मार्गों की बात पृ० ५६ पर विगतक्रमा जाति सं० १५ में देखें। अड्डितमार्ग = आंकिक मृदंग पर प्रहारयुक्त। वितस्तमार्ग, वहीं ऊपर देखें।
आलिप्त मार्ग = आंकिक के 'वाम' मुख में और ऊर्ध्वक पर प्रहार।
गोमुखी मार्ग = आलिंगक-करण-बहुल, सर्वपुष्करहत)।

(ङ) शिरोभेदों में 'अर्थ' के साथ-साथ रसाधारित विनियोग

अनीप्सिते विषादे च विस्मये प्रत्यये तथा ।
पार्श्वविलोकने शून्ये प्रतिषेधे धुतं शिरः ।।
शीतग्रस्ते भयार्ते च त्रासिते ज्वरिते तथा ।
पीतमात्रे तथा मद्ये विधुतं तु भवेच्छिरः ।।
(ना० शा० ८ २५-२६)

अनीप्सित (अनचाहा घटित होने पर), विषाद, विस्मय, प्रत्यय (समझ), पार्श्व-अवलोकन, शून्य और प्रतिषेध में धुत शिर (होगा)। (धुत = सिर को दाएँ-बाएँ हिलाना)। शीतग्रस्त, भयार्त, त्रासित, ज्वरित, मद्य पीने पर तुरन्त बाद— इन (स्थितियों) में विधुत (दाएँ-बाएँ जोर से सिर को हिलाना) शिर होगा।

(च) हस्तभेदों में 'अर्थ' के साथ-साथ रसाधारित विनियोग

चतुर हस्त

तिस्रः प्रसारिता यत्र तथा चोर्ध्वा कनीयसी ।
तासां मध्ये स्थितोऽङ्गुष्ठः स करश्चतुरः स्मृतः ।।
नयविनयनियमसुनिपुणबालातुरसत्त्वकैतवार्थेषु ।
वाक्ये युक्ते पथ्ये सत्ये प्रशमे च विनियोज्यः ।।
एकेन द्वाभ्यां वा किंचिन्मण्डलकृतेन हस्तेन ।
त्रिवृतविचारितचरितं वितर्कितं लज्जितं चैव ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नयनौपम्यं पद्मदलनिरूपणं हरिणकर्णनिर्देशः।
संयुतकरणेनैव तु चतुरेणैतानि कुर्वीत ॥
लीलारती रुचिं च स्मृति-बुद्धिविभावनाः क्षमां पुष्टिम्।
संज्ञामात्रां प्रणयं विचारणं संगतं शौचम् ॥
चातुर्यं माधुर्यं दाक्षिण्यं मार्दवं सुखं शीलम्।
प्रश्नं वार्तायुक्तिं वेषं मृदु शाद्वलं स्तोकम् ॥

(ना० शा० ६.६३ गद्य-६८)

चतुर हस्त वह है जिसमें तीन उँगलियाँ फैली हुई, कनिष्ठा ऊपर उठी हुई और अंगूठा (तीन उँगलियों के) मध्य में है अर्थात् मध्यमा उँगली के मध्य में है।

नय, विनय, नियम, सुनिपुण, बालातुर (बाल, आतुर=रोगी ?) सत्त्वकैतव सत्त्व अर्थात् कोई भी सात्त्विक भाव ?, कैतव अर्थात् कपट। अभिनवगुप्तपाद का कहना है कि इन सबमें भेद मुखराग के भेद से प्रकट होगा, हस्त तो एक ही है), इन अर्थों में, वाक्य (कुछ कहना) युक्त (उचित), पथ्य (उपादेय), सत्य और प्रश्न में विनियोज्य है।

एक हाथ से अथवा दोनों हाथों से यह हस्त किंचित् मण्डलाकार (गोलाई) में लेने से विवृत (विवरण युक्त), विचारित, चरित, वितर्कित और लज्जित का (अभिनय करेगा)।

नयनों का औपम्य (सादृश्य), पद्मदल का रूपण (दिखाना), हरिण के कानों का निर्देश—ये सब एक-एक हाथ से नहीं होंगे, इनमें संयुतकरण ही करना होगा।

लीला, रति, रुचि, स्मृति, बुद्धि, विभावना (ऊहापोहरूपा) क्षमा, पुष्टि, संज्ञामात्र, प्रणय, विचारण, संगत (?), शौच, चातुर्य, माधुर्य, दाक्षिण्य (आनुकूल्य) मार्दव, सुख, शील (स्वभाव), प्रश्न, वार्तायुक्ति (बात कहने में युक्त), वेष, मृदु, शाद्वल (हरा-भरा), स्तोक (थोड़ा), विभव, अविभव, सुरत, गुण, अगुण, यौवन, गृह, दारा तथा नाना वर्ण (रंग)—इन सबको चतुर (हस्त) से ही प्रयुक्त करना चाहिए।

कपोत हस्त

उभाभ्यामपि हस्ताभ्यामन्योन्यं पार्श्वसंग्रहात्।
हस्तः कपोतको नाम कर्म चास्य निबोधत ॥
एष विनयाभ्युपगमे प्रणामकरणे गुरोश्च संभाषे।
शीते भये च कार्यो नेदानीं कृत्यमिति चार्थे।

(ना० शा० ९/३० गद्य—१३३ कख)

दोनों हस्तों द्वारा एक-दूसरे के पार्श्व पकड़ने से कपोत नाम का हस्त (होता है) और इसका 'कर्म' (विनियोग) समझो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विनय-अभ्युपगम, प्रणामकरण, गुरु से संभाषण, शीत और भय में (इसे) करना चाहिए और इस अर्थ में भी कि 'अब यह नहीं करना चाहिए'।

पताक हस्त

प्रसारिताः समाः सर्वा यस्यांगुल्यो भवन्ति हि।
कुंचितश्च तथांगुष्ठः स पताक इति स्मृतः॥
एष प्रहारपाते प्रतापने नोदने प्रहर्षे च।
गर्वेऽप्यहमिति तज्ज्ञैर्ललाटदेशोत्थितः कार्यः॥

(ना० शा० ६.१८, १६)

जिस (हस्त) में सब उँगलियाँ फैली हुई और अंगूठा कुंचित (मुड़ा हुआ) रहता है, वह पताक है। यह प्रहार, पात, प्रतापन (आग तापने) नोदन (प्रेरण), प्रहर्ष, गर्व में 'मैं भी हूँ' या 'मेरा भी है' (इस अन्तिम अर्थ में) ललाटदेश पर यह हस्त रहेगा। (प्रत्येक विनियोग में हस्त की स्थिति बदलती जाएगी, कभी वक्ष पर, तो कभी पार्श्व में)।

(छ) स्थानक और गति में रसाधारित विनियोग

आलीढ स्थानक

आलीढं स्थानकं कुर्याद्रुद्रश्चास्याधिदैवतम्।
अनेन कार्यं स्थानेन वीररौद्रकृतं तु यत्॥
उत्तरोत्तरसंजल्पो रोषामर्षकृतश्च यः।
मल्लानां चैव संफेटः शत्रूणां च निरूपणम्॥

(ना० शा० १० ६८-६६)

आलीढ स्थानक करे। रुद्र इसके अधिदैवत हैं। इस स्थानक के द्वारा, जो कुछ भी वीररौद्रकृत है, वह करना चाहिए। उत्तरोत्तर संजल्प, रोषामर्षकृत जो कुछ है, वह, मल्लों के संफेट (मुठभेड़) का और शत्रुओं का निरूपण (करना चाहिए)।

पात्र-प्रवेश के समय वाद्य

तत्रोपवहनं कृत्वा भाण्डवाद्यपुरस्कृतम्।
यथामार्गरसोपेतं प्रकृतीनां प्रवेशने॥
ध्रुवायां संप्रवृत्तायां पटे चैवापकर्षिते।
कार्यः प्रवेशः पात्राणां नानार्थरससंभवः॥

(ना० शा० १२ २, ३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पात्रों के प्रवेश के समय भाण्ड वाद्य से आरम्भ करके उपवहन (उपोहन= निरर्थक अक्षरों का गान) यथामार्ग रसोपेत(करना चाहिए)।

जब ध्रुवा (गान) शुरू हो जाए और पट खींच दिया जाए, तब पात्रों का प्रवेश करना चाहिए, जिससे नाना रसों का 'संभव' (उद्गम) होता है।

गति-भेद

ज्वरार्ते च क्षुधार्ते च तपःश्रान्ते भयान्विते।
विस्मये चावहित्थे च तथौत्सुक्यसमन्विते।।
शृंगारे चैव शोके च स्वच्छन्दगमने तथा।
गतिः स्थितलया कार्याधिकलान्तरपतिता।।
पुनश्चिन्तान्विते चैव गतिः कार्या चतुष्कला।
अस्वस्थकामिते चैव भये वित्रासिते तथा।।
आवेगे चैव हर्षे च कार्ये (कार्य) यच्च त्वरान्वितम्।
अनिष्टश्रवणे चैव क्षेपे चाद्भुतदर्शने।।
अपि चात्यपिके कार्ये दुःखिते शत्रुमार्गणे।
अपराद्धानुसरणे श्वापदानुगतौ तथा।।
एतेष्वेवं गतिं प्राज्ञो विकलां संप्रयोजयेत्।

(ना० शा० १२.३४-३६ कख)

ज्वरार्त, क्षुधार्त, तपःश्रान्त, भयान्वित, विस्मय, अवहित्थ (अवहित्था= गोपनेच्छा), औत्सुक्य, शृंगार, शोक और स्वच्छन्दगमन में स्थित (विलम्बित) लय वाली गति करनी चाहिए जो अधिक कलाओं के अन्तर से पतित होती है। (कला=एक गुरु, एक-एक पादक्रम का नाप अधिक कलाओं में अभिप्रेत है)।

चिन्तान्वित (अवस्था) में चतुष्कला गति (करना चाहिए)।

अस्वस्थ कामित (प्रच्छन्न या गुप्त काम) में, भय, वित्रासित, आवेग, हर्ष, त्वरान्वित कार्य, अनिष्टश्रवण, क्षेप, अद्भुत दर्शन, आत्ययिक (जल्दी के) कार्य, दुःखित, शत्रु को खोजने में, अपराधी का पीछा करने में, कुत्ते द्वारा पीछे भागने में, इन (सब) में बुद्धिमान् (प्रयोक्ता) विकला गति का प्रयोग करे। (विकला अर्थात् जिसमें कलाओं का कोई हिसाब नहीं है। यथायोग्य त्वरित गति ही यहाँ अभिप्रेत है।)

(ज) दशरूपकविधान में रस

अपसरणमेव कार्यं ग्रहणं वा सन्धिरेव वा योज्यः।
काव्यश्लेषैर्बहुभिर्यथारसं नाट्यतत्त्वज्ञैः।।

(ना० शा० १८.४०)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(प्रसंग यह है कि नायक का वध नाटक में नहीं दिखाना चाहिए)। (वध न करा के) अपसरण अर्थात् पलायन अथवा ग्रहण अर्थात् वन्धन (बांध लेना) अथवा सन्धि (सुलह) करा देना चाहिए। (यह सब कुछ) प्रधान रस के अनुसार काव्य-वन्ध के द्वारा करना चाहिए। (यहाँ यथारस का उल्लेख लक्ष्य करने योग्य है।)

समवकार

वक्ष्याम्यतः परमहं लक्षणयुक्त्या समवकारम् ॥
देवासुरवीजकृतः प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव ।
अंकस्तथा त्रिकपटस्त्रिविद्रवः स्यात्त्रिश्रृंगारः ॥
....

युद्धजलसम्भवो वा वाय्वग्निगजेन्द्रसंभ्रमकृतो वा।
नगरोपरोधजो वा विज्ञेयो विद्रवस्त्रिविधः ॥
वस्तुगतक्रमविहितो दैववशाद्वा परप्रयुक्तो वा ।
सुखदुःखोत्पत्तिकृतस्त्रिविधः कपटोऽत्र विज्ञेयः ॥
त्रिविधश्चात्र विधिज्ञैः पृथक्पृथक्कार्ययोगविहितार्थः ।
श्रृंगारः कर्तव्यो धर्मे चार्थे च कामे च ॥
....

एवं कार्यस्तज्ज्ञैर्नानारससंश्रयः समवकारः ।

(ना० शा० १८.६२ गद्य, ६३, ७०-७२)

इसके वाद (अब) मैं लक्षण—युक्ति से समवकार को कहता हूँ। देव-असुर के 'वीज' (फलप्राप्ति के उपाय) से विरचित, विख्यात उदात्त नायक से युक्त, तीन अंक, तीन कपट, तीन विद्रव, तीन श्रृंगार से युक्त (समवकार) है।

युद्ध या जल से उत्पन्न (भागदौड़), अथवा वायु-अग्नि-गजेन्द्र से उत्पन्न संभ्रम (अस्त-व्यस्तता, व्यग्रता) अथवा नगरोपरोध (नगर की नाकेबन्दी) से उत्पन्न—इस प्रकार विद्रव यानी भगदड़ या आतंक त्रिविध है।

कपट त्रिविध है—१. वस्तुगत क्रम से विहित (अर्थात् वस्तु यानी फल, उसकी प्राप्ति में वस्तुगत फलसाधक यानी कर्ता, उसके क्रम यानी उपायचिन्तनादि से जो विहित है, ऐसी वंचना) २. दैव के कारण घटित वंचना, ३. परप्रयुक्त वंचना। सुख-दुःख की उत्पत्ति करने वाला यह त्रिविध कपट है। तीनों में पृथक्-पृथक् कार्य-योग विहित है।

श्रृंगार, धर्म, अर्थ और काम में करना चाहिए।

इस प्रकार तज्ज्ञों को नाना रसों के संश्रय समवकार को रचना चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डिम

प्रख्यातवस्तुविषयः प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव।
षड्रसलक्षणयुक्तश्चतुरंको वै डिमः कार्यः॥
शृंगारहास्यवर्जः शेषैः सर्वैं रसैः समायुक्तः।
दीप्तरसकाव्ययोनिर्नानाभावोपसंपन्नः॥

(ना० शा० १८.८४-८५)

प्रख्यात वस्तु (कथा) जिसका विषय है, प्रख्यात उदात्त नायक है, छह रसों के लक्षण से युक्त, चार अंकों वाला डिम बनाना चाहिए। शृंगार-हास्य को छोड़ कर शेष सभी रसों से युक्त, दीप्त रस वाले काव्य का उत्पत्तिस्थान, नाना भावों से उपसंपन्न (डिम) है।

व्यायोग

युद्धनियुद्धाधर्षणसंघर्षकृतश्च कर्तव्यः।
एवंविधस्तु कार्यो व्यायोगो दीप्तकाव्यरसयोनिः॥

(ना० शा० १८.९२ गद्य, ९३ कख)

युद्ध, नियुद्ध (मल्लयुद्ध), आधर्षण (तिरस्कार, आक्रमण) संघर्षकृत—इस प्रकार का व्यायोग बनाना चाहिए, जो कि दीप्त काव्यरस का उत्पत्ति-स्थान है।

उत्सृष्टिकांक

करुणरसप्रायकृतो निवृत्तयुद्धोद्धतप्रहारश्च।
स्त्रीपरिदेवितबहुलो निर्वेदितभाषितश्चैव॥

(ना० शा० १८.९५)

(जिसमें) करुण रस प्रधान है, युद्ध और उद्धत प्रहार से जिसमें निवृत्ति है, स्त्रियों का परिदेवित (विलखना-कलपना) बहुल है, निर्वेदित-भाषित है, (वह उत्सृष्टिकांक है)।

वीथी

सर्वरसलक्षणाढ्या युक्ता ह्यंगैस्त्रयोदशभिः।
वीथी स्यादेकांका·················॥

(ना० शा० १८.११२ कखग)

वीथी एकांका है, सब रसों के लक्षण से भूषित है, तेरह अंगों से युक्त है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सब रूपकों के अन्त में अद्‌भुत रस

सर्वेषां काव्यानां नानारसभावयुक्तियुक्तानाम् ।
निर्वहणे कर्तव्यो नित्यं हि रसोऽद्‌भुतस्तज्ज्ञैः ॥
(ना० शा० १८.४३)

नाना रस-भाव-युक्ति से युक्त सब काव्यों के निर्वहण (अन्त) में नित्य ही तज्ज्ञों को अद्‌भुत रस करना चाहिए ।

(झ) वर्णों और छन्दों का रसाधारित विनियोग

प्रतिकूलवर्ण दोष

रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते, तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णम् ।
(काव्यप्रकाश ७, सूत्र ७५ (१))

वर्णों को रस के अनुगुण (गुणानुसारी) होना चाहिए, ऐसा (आगे) कहा जाएगा, उस (रस) के विपरीत होना 'प्रतिकूलवर्ण' दोष है ।

हतवृत्त दोष

हतं लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु, रसाननुगुणं च वृत्तं यत्र तत् हतवृत्तम् ।

(काव्यप्रकाश ७. सूत्र ७५ (५))

लक्षण के अनुसार (वृत्त) होने पर भी अश्रव्य (सुनने में असुखकर) हो, अन्तिम यानी पादान्त का लघु गुरुभाव को प्राप्त न हो और रस के अनुगुण (अनुरूप) (वृत्त) न हो, (ये सभी) हतवृत्त दोष के रूप हैं ।

(ञ) उद्धत और सुकुमार प्रयोग

एवमेष विधिः कार्यो गीतेष्वासारितेष्वपि ।
देवस्तुत्याश्रयं ह्येतत् सुकुमारं निबोधत ॥
स्त्रीपुंसयोस्तु संलापो यस्तु कामसमुद्‌भवः ।
विज्ञेयं सुकुमारं हि शृंगाररससम्भवम् ॥
(ना० शा० ४ ३०२, ३०३)

इस प्रकार यह विधि आसारित गीतों में करनी चाहिए, यह देवस्तुत्याश्रय (उद्धत) है । (अब) सुकुमार को समझो । स्त्री-पुरुषों का जो संलाप है, जो काम से उत्थित है, उसे सुकुमार समझना चाहिए (जो कि) शृंगार रस से उद्‌भूत है ।

देवस्तुत्याश्रयकृतं यदंग तु भवेदथ ।
माहेश्वरैरंग हारैरुद्धतैस्तत् प्रयोजयेत् ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यत्तु श्रृंगारसम्वद्धं गानं स्त्रीपुरुषाश्रयम्।
देवीकृतैरंगहारैर्ललितैस्तत् प्रयोजयेत् ।।

(ना० शा० ४.३११-३१२)

देवस्तुति को आश्रय बनाकर जो अंग (अंग-संचालन अथवा अभिनय) है उसका प्रयोग माहेश्वर अंगहारों से करना चाहिए (जो कि) उद्धत हैं। जो स्त्री-पुरुषाश्रित श्रृंगारसंवद्ध गान है; उसका प्रयोग देवीकृत ललित अंगहारों से करना चाहिए।

(ट) रसों के धर्म या गुण

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।।६६।।

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्। क्वचितु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात् 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारादन्यत्राशूरेऽपि वितताकृतित्वमात्रेण 'शूरः' इति क्वापि शूरेऽपि मूर्तिलाघवमात्रेण 'अशूरः' इति, अविश्रान्तप्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति तद्वन्मधुरादिव्यंजकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादिव्यवहारप्रवृत्तेर-मधुरादिरसांगानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादिमधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्यादिरमाधुर्यादि रसपर्यन्तविश्रान्तप्रतीतिवन्ध्या व्यवहरन्ति, अत एव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः। यथैषां व्यंजकत्वं तथोदाहरिष्यते।

माधुयर्येजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते..................।
आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृंगारे द्रुतिकारणम् ।।६८।।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।
दीप्त्यास्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।।६९।।
वीभत्सरौद्र (रस) योस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।
शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः ।।७०।।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।
गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ।।७१।।

(काव्यप्रकाश-८)

जो अंगी—स्थानीय रस के धर्म हैं, जैसे कि शौर्य आदि आत्मा के धर्म हैं (शरीर के नहीं), वे (रस के) उत्कर्ष के हेतुभूत हैं और उनकी अचल स्थिति है अर्थात् वे रस के साथ नित्य रहते हैं और उसका उत्कर्ष भी नित्य करते हैं। जैसे शौर्य आदि गुण आत्मा के ही (होते हैं), आकार (शरीर) के नहीं, वैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही माधुर्य आदि गुण रस के ही हैं, वर्ण आदि के नहीं।

कभी शौर्यादि के समुचित (अनुरूप) आकार का महान् होना देखकर 'इसका आकार ही शूर है' इत्यादि के व्यवहार (कथन) के कारण अन्यत्र अशूर के लिए भी लम्बी-चौड़ी आकृति मात्र के कारण 'शूर है' ऐसा, कभी शूर के लिए भी छोटी मूर्ति (देह) होने के कारण 'अशूर है', इस प्रकार के व्यवहार वे लोग करते हैं, जो अविश्रान्त प्रतीति से युक्त हैं। (अविश्रान्त प्रतीति के दो अर्थ किये गये हैं—एक तो वे जिनकी प्रतीति विषय से अन्यत्र नहीं फैलती अर्थात् भ्रान्त, दूसरे वे जिनकी प्रतीति यथार्थ तक नहीं पहुँचती अर्थात् अदूरदर्शी।) इसी प्रकार माधुर्य आदि (गुणों) के व्यंजक सुकुमार आदि वर्णों के लिए मधुर आदि व्यवहार की प्रवृत्ति के कारण माधुर्यरहित रसांगभूत वर्णों के सौकुमार्य आदि मात्र से (उनमें) माधुर्यादि का व्यवहार, मधुरादि रसों के उपकरणभूत वर्णों के असौकुमार्य आदि के कारण (उनमें) अमाधुर्य आदि का व्यवहार वे लोग करते हैं, जिनकी प्रतीति रसपर्यन्त नहीं पहुँचती (या वहाँ तक पहुँचकर विश्रान्त नहीं होती)।

अतएव माधुर्यादि रस के धर्म समुचित वर्णों से व्यंजित होते हैं, न कि वर्ण-मात्र के आश्रित (होते हैं)। जिस प्रकार इनका व्यंजकत्व है, वह (आगे) कहा जाएगा।

वे (गुण) तीन हैं—माधुर्य, ओजस् और प्रसाद।

माधुर्य का अर्थ है आह्लादकत्व और वह (चित्त की) द्रुति (द्रवीभूत अवस्था) का कारण है। वह (माधुर्य) शृंगार, करुण, विप्रलम्भ और शान्त में (क्रमशः) अतिशयान्वित अर्थात् एक से एक अधिक है। (शृंगार का अर्थ संयोग-शृंगार लिया गया है।)

ओजस् (का अर्थ चित्त की) दीप्ति है, जो कि आत्मा यानी चित्त की विस्तृति का हेतु है। (वह) वीर रस में रहता है और बीभत्स, रौद्र रसों में क्रमशः उसका आधिक्य है।

(वीर में जिगीषा=जीतने की इच्छा, बीभत्स में तितिक्षा अर्थात् त्याग की इच्छा और रौद्र में जिघांसा अर्थात् वध की इच्छा, इन तीनों में क्रमशः ओजस् की अधिकता है।)

(हास्य, भयानक और अद्‌भुत रस यहाँ नहीं गिनाए गए हैं। इनमें माधुर्य और ओजस् दोनों की स्थिति होने के कारण, किसी एक गुण के साथ इन्हें नहीं रखा गया है)।

सूखे इंधन में जैसे (अग्नि तुरन्त व्याप्त होती है) और स्वच्छ (वस्त्र में) जल जैसे (तुरन्त रच जाता है) उसी प्रकार जो चित्त को तुरन्त व्याप्त कर लेता है, वह प्रसाद (गुण) है और उसकी स्थिति सर्वत्र (सब रसों और रचनाओं में) है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गौणी वृत्ति (लक्षणा) से इन (गुणों) की स्थिति शब्द और अर्थ में भी मानी जाती है।

(ठ) रेखा, पंचभूत और रस

उत्थितरेखा अग्निरूपाः पार्श्वगा अब्रूपाः, तिर्यग्रेखा मरुद्रूपा इति ।।२१।।
रेखाप्रभेदे भावभेदा उपजायन्ते। रेखानुसृतं रूपं विभाति। रूपं सुरूपं भवतीति। तत्त्वरेखावलम्वने रूपात्मप्रत्यक्षं भवति प्रतिरूपे च। यथाऽऽहुत्या वृष्टिर्भवति तथा रूपसौभगाद् ध्यानभावः सम्प्रतिष्ठते। यथा पर्जन्यादन्नं सम्भवति तथा ध्यानाल्लय उपजायते। लयान्मनुजा दिव्या भवन्ति। यथाऽन्नात् प्राणः संचरति तथा लयात्तद्भावमनुभवन्ति, मनो निश्चलं भवति। तेषां न पुनरावृत्तिः, एतदर्थं रूपं कल्पयन्ति ऋषयो लोके। रूपे रेखा आहुतय इव।
रूपसौभाग्याद् ध्यानभावो जायते ।।२२।।
सा हि वृष्टिः। सा ऋतस्य धारा। यथा पर्जन्याद् बहुधाऽन्नानि सम्भवन्ति तथा रेखाया रूपाणि।
अग्निरेखायामुत्तुंगरूपाणि जायन्ते ।।२३।।
तानि सर्वाण्युदारभावप्रदायकानि सौम्यानि। उत्थिताकृतीनीति।
अब्रेखायामुत्सुकरूपाणि जायन्ते ।।२४।।
तान्युग्रभावप्रदायकानि।
मारुतरेखायां तैजसरूपाणि ।।२५।।
तीक्ष्णभावप्रदायकानि योधरूपाण्युपजायन्ते। तानि सर्वाणि भीषणरूपार्थम्। कर्णजा रेखा ग्राह्या इत्थं रूपकर्मार्थम्।

(वास्तुसूत्रोपनिषद्-२)

भावस्यारोपणं रूपकर्मणि विधेयम् ।।१।।
भावस्याधारो रसः ।।२।।
मनसि वृत्तिर्बहुधा प्रजायते। तदा भिन्नभिन्नरसाद् रूपं नैकं भवति ।।३।।
नवधा रसः ।।४।।
प्रथमरसः शृंगारः ।।५।।
शृंगाररूपार्थमब्रेखा ग्राह्याः ।।६।।
प्रसन्नाननमिति तेषां लक्षणम्। कामनिवृत्तौ मन उल्लसितं भवति। हास्यं प्रददाति।
स हासो द्वितीयरसः ।।७।।
हास्यभावप्रदायकविग्रहा जनानां हृदये सुखं संचारयन्ति।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कारुप्रयोगे तेषामधर उन्मुक्तः, नेत्रं सौम्यमिति तेषां लक्षणम्।
मुखलक्षणाद् रसं जानन्ति सर्वे ईक्षणेन ॥८॥
यदा दुःखं तदा सुखमिति सत्यं, रात्रिन्दिवमिव सुखस्य परिणामो विषादः, विषादात् सर्वेन्द्रियाणि शिथिलानि भवन्ति।
स तृतीयः करुणरसभाव इति ॥९॥
नयनमर्धमुक्तं च तेषां लक्षणम्। करुणान् मनो निश्चेष्टं भवति। सोऽवसाद इति। अवसादात् पुनर्विषादः संजायते। ततः क्रोधो जायते। रौद्रः शिल्पकारेषु चतुर्थो रसः ॥१०॥
मुखं प्रशस्तं नेत्राणि स्फारितानि, हस्ते योधायुधः, अयमिति तेषां लक्षणम्।
तिर्यग्रेखायां भावः प्रकटो भवतीति विशेषः ॥११॥
रौद्रभावात् तनुपि विकारो जायते।
तेष्वसमानि कायमुखनेत्राणीति लक्षणम्। कौणव-लक्षणान्विता द्रुता पादरेखा समसरला देवराक्षसयोर्मध्ये घातकर्मेव। तेषां मुखे वैरभावस्तल्लक्षणं भवति भयंकरतूर्यमाण इव ॥१२॥
वैरभावे उत्कटे भयंकरो भवति। स विलक्षणः षष्ठरसः ॥१३॥
उभयपार्श्वे रूपस्यांगवैषम्यं ध्येयम्। ये वर्धितास्ते बीभत्सा ग्लानियुक्ताः कुरूपाः क्षिप्तांगाश्च।
तस्यांगं मारुतरेखायामिति स सप्तमः ॥१४॥
कामे निवृत्ते दैवभाव उपजायत इति शेषोपायः। अवगत्या विरतो भवतीति।
शान्तभावः, सोऽष्टमो रसः ॥१५॥
एवं जीवस्याष्टविकाररूपेणाष्टभावाः सम्पद्यन्ते।
भावानुगतरूपाणि चतुर्धा मुख्यानि ॥१६॥
येषां शान्तास्ते सर्वेऽग्निरेखाश्रयिणः। येषां करुणास्ते सर्वेऽब्रेखाश्रयिणः। आलस्यमूर्तिषु सर्वेऽत्राश्रयिणः। येषां सर्वांगाणि कर्णरेखाश्रयाणि ते रौद्राः। रौद्रा मिश्रा वैरा मारुतरेखाया आधारः।

(वास्तुसूत्रोपनिषद्-५)

उठी हुई (खड़ी) रेखाएँ अग्नि-रूप हैं, पार्श्व को जाने वाली अब् (जल) रूप हैं, तिर्यक् अर्थात् तिरछी (विकर्ण) रेखाएँ मरुद् (वायु) रूप हैं।

रेखा के भेद से भाव-भेद होते हैं। रेखा के अनुसार रूप प्रकट होता है। रूप सुरूप वनता है। तत्त्व-रेखा के अवलम्बन से रूपात्म का प्रत्यक्ष होता है, प्रतिरूप में भी (वैसा होता है)। जैसे आहुति से वृष्टि होती है, वैसे ही रूपसौभग (रूप की सुभगता) से ध्यान-भाव प्रतिष्ठित होता है। जैसे पर्जन्य से अन्न होता है, वैसे ही ध्यान से लय उत्पन्न होता है। लय से मनुष्य दिव्य बनते हैं। जैसे अन्न से प्राण का संचरण होता है, वैसे लय से (साधक) उस भाव का अनुभव करते हैं, मन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निश्चल होता है। उन (साधकों) की पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) नहीं होती। इसीलिए ऋषि लोक में रूप की कल्पना करते हैं। रूप में रेखा आहुतियों की भाँति है।

रूप-सौभाग्य से ध्यान-भाव उत्पन्न होता है। वह वृष्टि है, वह ऋत की धारा है। जैसे पर्जन्य से वहुधा अन्न होते हैं, वैसे रेखा से रूप उत्पन्न होते हैं।

अग्निरेखा में उत्तुंग (ऊँचे) रूप वनते हैं। वे सव (रूप) उदार-भाव-प्रदायक सौम्य होते हैं, उत्थित आकृति वाले होते हैं।

अव् रेखा में उत्सुक रूप वनते हैं। वे उग्र भाव-प्रदायक होते हैं। (यहाँ 'सौम्य' और 'उग्र' का निरूपण चिन्तनीय है)।

मारुत रेखा में तैजस रूप होते हैं।

तीक्ष्णभाव—प्रदायक योद्धा रूप उत्पन्न होते हैं। वे सव भीषण रूप के लिए हैं। ऐसे रूपकर्म के लिए कर्णजा रेखा लेनी चाहिए।

रूप-कर्म में भाव का आरोपण करना चाहिए।

भाव का आधार रस है।

मन में वृत्ति वहुधा होती है। तदनुसार भिन्न-भिन्न रस से रूप एक नहीं वनता।

नवधा रस है।

प्रथम रस शृंगार है।

शृंगार-रूप के लिए अव् रेखा का ग्रहण करना चाहिए।

प्रसन्न आनन ऐसा उन (शृंगारयुक्त) रूपों का लक्षण है। कामनिवृत्ति से मन उल्लसित होता है। वह हास्य को देता है।

वह हास द्वितीय रस है।

हास्यभावप्रदायक विग्रह लोगों के हृदय में सुख का संचार करते हैं। कारुप्रयोग (मूर्तिरचना) में उनका अधर खुला, नेत्र सौम्य (रहते) हैं, ऐसा लक्षण है।

मुखलक्षण से सव लोग ईक्षण (दृष्टि) से रस को जानते हैं।

जव दुःख है, तव सुख (भी) होता है, रात्रि दिवस की तरह। सुख का परिणाम विषाद है, विषाद से सव इन्द्रियाँ शिथिल होती हैं।

वह तृतीय करुण रस भाव है।

नयन आधे खुले हों, ऐसा उन (करुण-रस-मूर्तियों) का लक्षण है। करुण से मन निश्चेष्ट होता है। वह अवसाद है। अवसाद से फिर विषाद होता है। उससे क्रोध होता है।

रौद्र शिल्पकारों में चतुर्थ रस है।

मुख प्रशस्त, फटे हुए नेत्र, हाथ में योधायुध (युद्ध के शस्त्र) यह उनका (रौद्र मूर्तियों का) लक्षण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तिर्यग् (तिरछी) रेखा में भाव प्रकट होता है, यह विशेष (बात) है।

रौद्र भाव से शरीर में विकार उत्पन्न होता है।

उनका (रौद्रमूर्तियों का) लक्षण है असम या विषम कायमुख-नेत्र। कौणप (पिशाच-राक्षस)-लक्षणान्विता द्रुता पादरेखा समसरला होती है, देवराक्षसों के बीच घातकर्म की भाँति। (इस वाक्य का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है)। उनके मुख में वैरभाव होता है। उसका लक्षण है मानो भयंकर तूर्यमाण (तुरही बजाते हुए या स्वयं तुरही सरीखे बनते हुए)।

उत्कट वैरभाव में (मूर्ति) भयंकर होती है। वह विलक्षण षष्ठ रस है। (वीर और भयानक को एक साथ लेकर चौथे रौद्र के बाद यहाँ छठा कह दिया है)।

उभय पार्श्वों में रूप का अंगवैषम्य ध्येय है। जो वर्धित (सामान्य से बढ़े हुए) हैं, वे बीभत्स, ग्लानियुक्त, कुरूप और क्षिप्तांग (विकलांग) हैं।

उस (वीभत्सयुक्त) का अंग (मूर्ति) मारुत् रेखा में बनती है, इस प्रकार वह (बीभत्स) सातवाँ है।

काम निवृत्त होने पर दैवभाव उत्पन्न होता है, यह शेष (अन्तिम) उपाय है। अवगति (समझ या बोध) के कारण (मनुष्य) विरत होता है।

शान्त भाव, वह अष्टम रस है।

इस प्रकार जीव के अष्ट विकार रूप से अष्ट भाव संपन्न होते हैं।

भावानुगत रूप चार प्रकार के मुख्य हैं।

जिनके शान्त (रूप) हैं, वे सब अग्नि-रेखा के आश्रित हैं। आलस्य-मूर्तियों में सब अवाश्रयी हैं। जिनके सब अंग कर्णरेखा के आश्रित हैं, वे रौद्र हैं। रौद्र मिश्र वैर (मूर्तियाँ) मारुतरेखा के आधार पर हैं।

(ड) समरांगणसूत्रधार में रस-वर्णन और भाव-रस दृष्टियाँ

रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनां चेह लक्षणम्।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते।।
शृंगारहास्यकरुणा रौद्रप्रेयोभयानकाः।
वीर-प्रत्ययाक्षौ (?) च बीभत्सश्चाद्भुतस्तथा।।
शान्तश्चैकादशेत्युक्ता रसाश्चित्रविशारदैः।
निगद्यते क्रमेणैषां सर्वेषामपि लक्षणम्।।
सभ्रूकम्प-कटीक्षपे च (कटीक्षेप ?) स्तथा प्रेमगुणान्वितः।
यत्रेष्टललिता चेष्टा स शृंगारो रसः स्मृतः।।
विकासिललितापांगो मृदु चा (मृदुश्च) स्फुरिताधरः।
लीलया सहितो यश्च स हास्यो रस उच्यते।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अश्रुक्लिन्नकपोलान्तः शोकसंकुचितेक्षणः ।
चित्तसन्तापसंयुक्तः प्रोच्यते करुणो रसः ।।
निर्मार्जितललाटान्तः सरक्तोद्‌वृत्तलोचनः ।
दन्तदष्टाधरोष्ठो यः स रौद्रो रस उच्यते ।।
अर्थलाभसुतोत्पत्तिप्रियदर्शनहर्षजः ।
सञ्जातपुलकोद्‌भेदो रसः प्रेमा स उच्यते ।।
वैरिदर्शनवित्राससम्भ्रमोद्‌भ्रान्तलोचनः ।
हृदि संक्षोभयोगाच्च रसो ज्ञेयो भयानकः ।।
अष्टावष्टम्भसामर्थ्यसूत्रसंकुचिताननः ।
धैर्यवीर्यवलोत्पन्नः स वीरस्तु रसः स्मृतः ।।
(ईपदुप्तसित्तत्र कस्तच्च ?) स्तिमिततारकः ।
असम्भाव्यं विलोक्यार्थमद्‌भुतो जायते रसः ।।
अविकारैः प्रसन्नैश्च भ्रूनेत्रवदनादिभिः ।
अरागाद् विषयेषु स्याद् यः स शान्तो रसः स्मृतः ।।
इत्येते चित्रसंयोगे रसाः प्रोक्ताः सलक्षणाः ।
मानुषाणि पुरस्कृत्य सर्वसत्त्वेषु योजयेत् ।। इति रसाः

(समरांगणसूत्रधार ८२. १-१३)

अब रसों का और दृष्टियों का (हम) लक्षण कहेंगे क्योंकि चित्र में भावव्यक्ति उन्हीं (दृष्टियों) के अधीन है। श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, प्रेयान्, भयानक, वीर, (?) बीभत्स, अद्‌भुत और शान्त, ये एकादश रस चित्रविशारदों ने कहे हैं। क्रम से इन सबके लक्षण (अब) कहे जाते हैं।

श्रृंगार रस वह है जिसमें भ्रूकम्प के साथ कटीक्षेप (कमर मटकाना ?) है, जो प्रेमगुणान्वित है तथा जिसमें इष्टललिता चेष्टा है।

हास्य रस वह है जिसमें विकासी ललित अपांग (कटाक्ष) है, मृदु (रूप से) स्फुरित अधर है और जो लीला (क्रीडा या सहज भाव) से सहित है।

करुण रस उसे कहा जाता है जिसमें आँसुओं से भीगे कपोल के अन्तभाग (किनारे) हों, शोक से संकुचित नेत्र हों और चित्त के सन्ताप से जो युक्त हों।

रौद्र रस उसे कहा जाता है जिसमें ललाटान्त (ललाट के किनारे) पोंछे हुए नहीं हैं यानी माथा सिकुड़न-भरा है, लाल और ऊपर चढ़े हुए नेत्र हैं, दाँत से अधर-ओष्ठ दष्ट (काटे या दबाये हुए) हैं।

प्रेमारस वह है जो अर्थलाभ, पुत्रोत्पत्ति, प्रियदर्शन के हर्ष से उत्पन्न है और पुलक के उद्‌गम से युक्त है।

वैरिदर्शन के वित्रास से जनित संभ्रम (घबराहट) से ऊपर चढ़े हुए लोचन (जिसमें हैं) और हृदय में संक्षोभ (विचलित भाव) के योग से भयानक रस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जानना चाहिए।

अष्ट-अवष्टम्भ (आठ अंगों ? को स्तब्ध करने की स्थिति) से उत्पन्न सामर्थ्य या बल जिसमें है, सूत्र (?) संकुचित मुख वाला और धैर्य, वीर्य, बल से उत्पन्न वीर रस माना गया है।

ईषत् (किंचित्) ऊपर उठे नेत्र, स्तब्ध तारक (पुतली) जिसमें है, वह अद्भुत रस असंभव को देखकर उत्पन्न होता है।

विकार-सहित प्रसन्न भ्रू नेत्र वदन आदि से युक्त और विषयों से विराग के कारण शान्त रस होता है।

इस प्रकार ये लक्षण-सहित रस चित्रसंयोग से कहे गए हैं। मनुष्यों से आरम्भ करके सब प्राणियों में इनकी योजना करना चाहिए।

(ढ) रसों के जोड़े, रंग और देवता

तदेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः।

तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा—शृंगारो, रौद्रो, वीरो, वीभत्स इति। अत्र—

शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः॥
शृंगारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः॥
वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
वीभत्सदर्शनं यच्च ज्ञेयः स तु भयानकः॥

अथ वर्णाः—

श्यामो भवति शृंगारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः।
नीलवर्णस्तु वीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः॥

अथ दैवतानि

शृंगारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्यः करुणो यमदैवतः॥
वीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः।
वीरो महेन्द्रदेवः स्याददद्भुतो ब्रह्मदैवतः॥

(ना शा. ६, पृ० २९४-९५, श्लो. ३९-४५)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन (रसों) की उत्पत्ति, वर्ण (रंग) दैवत-निदर्शन की व्याख्या (हम) करेंगे।

उनके उत्पत्ति-हेतु चार रस हैं। जैसे—शृंगार, रौद्र, वीर, वीभत्स। यहाँ (श्लोक है) :

शृंगार से हास्य होता है, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत की उत्पत्ति होती है और वीभत्स से भयानक (होता) है।

शृंगार की जो अनुकृति कही गयी है, उसे हास्य कहा गया है। रौद्र का जो कर्म है, उसे करुण रस जानना चाहिए। वीर का भी जो कर्म है, वह अद्भुत है। जो देखने में वीभत्स है, वह भयानक है।

अब रंग (कहते हैं) :

शृंगार श्याम है, हास्य सित (श्वेत) है, करुण कपोत है और रौद्र रक्त है। वीर तो गौर (रक्त-पीत मिला हुआ) जानना चाहिए, भयानक कृष्ण (काला) है। वीभत्स नील रंग का है और अद्भुत पीत है।

अब दैवत (कहते हैं) :

शृंगार के दैवत विष्णु, हास्य के प्रमथ (शिव के गण), रौद्र के रुद्र, करुण के यम, वीभत्स के महाकाल, भयानक के काल, वीर के महेन्द्र और अद्भुत के ब्रह्मा दैवत हैं।

१. आहार्याभिनय में रंग

तत्रांगरचना पूर्वं कर्तव्या नाट्ययोक्तृभिः ।।
ततः परं प्रयोक्तव्या वेषा देशसमुद्भवाः ।
सितो नीलश्च पीतश्च चतुर्थो रक्त एव च ।।
एते स्वभावजा वर्णा यैः कार्यं त्वंगवर्तनम् ।
संयोगजाः पुनश्चान्ये उपवर्णा भवन्ति हि ।।
तानहं संप्रवक्ष्यामि यथाकार्यं प्रयोक्तृभिः ।
सितनीलसमायोगे कारण्डव इति स्मृतः ।।
सितपीतसमायोगात् पाण्डुवर्णः प्रकीर्तितः ।
सितरक्तसमायोगे पद्मवर्णः प्रकीर्तितः ।।
पीतनीलसमायोगाद्धरितो नाम जायते ।
नीलरक्तसमायोगात् कषायो नाम जायते ।।
रक्तपीतसमायोगाद् गौरवर्ण इति स्मृतः ।
ऐते संयोगजा वर्णा ह्युपवर्णास्तथापरे ।।
त्रिचतुर्वर्णसंयुक्ता बहवः संप्रकीर्तिताः ।
बलस्थो यो भवेद्वर्णस्तस्य भागो (भावो ?) भवेत्ततः ।।
दुर्बलस्य च भागौ द्वौ नीलं मुक्त्वा प्रदापयेत् ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नीलस्यैको भवेद्भागश्चत्वारोऽन्ये तु वर्णके ।।
बलवान् सर्ववर्णानां नील एव प्रकीर्तितः ।
एवं वर्णविधिं ज्ञात्वा नानासंयोगसंश्रयम् ।।
ततः कुर्याद्यथायोगमंगानां वर्तनं बुधः ।
वर्तनाच्छादनं रूपं स्ववेषपरिवर्जितम् ।।
नाट्यधर्मप्रवृत्तं तु ज्ञेयं तत्प्रकृतिस्थितम् ।
स्ववर्णमात्मनश्छाद्यं वर्णकैर्वेषसंश्रयैः ।।
आकृतिस्तस्य कर्तव्या यस्य प्रकृतिरास्थिता ।
यथा जन्तुः स्वभावं स्वं परित्यज्यान्यदैहिकम् ।।
तत्स्वभावं हि भजते देहान्तरमुपाश्रितः ।
वेषेण वर्णकैश्चैव च्छादितः पुरुषस्तथा ।।
परभावं प्रकुरुते यस्य वेषं समाश्रितः ।।

(ना० शा० २१. ७७ गद्य-११ कख)

(पुरुषों यानी नटों के वेष का प्रसंग है।) वहाँ पहले नाट्यप्रयोक्ताओं को अंग-रचना (शरीर को रंगना) करनी चाहिए। उसके बाद देश-समुद्भव (देशानुसारी) वेष करने चाहिए।

सित, नील, पीत और चौथा रक्त (लाल) ये स्वभावज रंग हैं, जिनसे अंगवर्तन करना चाहिए। अन्य संयोगज (मिलाने से बने) और पुनः उपवर्ण (कहलाते) हैं। उन्हें मैं बताता हूँ, जिस प्रकार प्रयोक्ताओं को करना चाहिए।

सित नील के समायोग से कारण्डव (बत्तख का रंग) ऐसा कहा गया है। सित, पीत के समायोग से पाण्डु वर्ण कहा गया है। सित, रक्त के समायोग से पद्मवर्ण कहलाता है, पीत नील के समायोग से हरित उत्पन्न होता है। नील रक्त के समायोग से कषाय (गहरा लाल) उत्पन्न होता है। रक्त पीत के समायोग से गौर वर्ण ऐसा कहा जाता है। ये संयोगज वर्ण हैं। और उपवर्ण दूसरे बहुत से हैं जिनमें तीन-चार वर्णों का संयोग है। जो बलस्थ (दूसरों को दबाने वाला) वर्ण है, उसका एक भाग और दुर्बल (रंग) के दो भाग देने चाहिए। ऐसा नील को छोड़ कर होगा। सब वर्णों में से नील ही बलवान् कहा जाता है। (इसलिए) नील का एक और अन्य वर्णों के चार भाग देना चाहिए। इस प्रकार नाना संयोग के आश्रित वर्णविधि को जान कर तब फिर यथायोग से अंगों का वर्तन करना चाहिए।

(नट के) स्ववेष को छोड़ कर वर्तन आच्छादन (से बना) रूप नाट्यधर्म में प्रवृत्त होता है, वह प्रकृति-स्थित अर्थात् नाट्य की प्रकृति (पात्र) में स्थित होता है। (नट को) अपना वर्ण ढकना चाहिए, वेषसंश्रित वर्णों के द्वारा उसकी वैसी आकृति बनाना चाहिए जैसी कि उसकी प्रकृति (नाट्यगत पात्र) में स्थित है। जैसे जीव अपने स्वभाव को छोड़कर देहान्तर का आश्रय लेकर अन्य दैहिक के स्वभाव को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धारण करता है, वैसे ही पुरुष (नट) उस पर-भाव को (धारण) करता है, जिसके वेष का वह आश्रय लेता है।

२. चित्रसूत्र में रस और वर्ण (रंग) का निरूपण

श्रृंगारहास्यकरुणवीररौद्रभयानकाः।
वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव चित्रे रसाःस्मृताः।।
तत्र यत्कान्तिलावण्यलेखामाधुर्यसुन्दरम्।
विदग्धवेषाभरणं श्रृंगारे तु रसे भवेत्।।
यत्कुब्जवामनप्रायमीषद्विकटदर्शनम्।
वृथा च हस्तं संकोच्य तत् स्याद्धास्यकरे रसे।।
यांचाविरहसंत्यागविक्रमव्यसनादिषु।
अनुकम्पितके यत् स्याल्लिखेत्तत्करुणे रसे।।
पारुष्य-विकृति-क्रोधविशस्यार्थोक्तदूषणम्।
दीप्रशस्त्राहननवत्कृतं रौद्रे रसे भवेत्।।
प्रतिज्ञागर्वशौर्यादिष्वर्थेष्वौदार्यदर्शनम्।
सस्मयं सभ्रुकुटिवद्वीरं वीररसेऽद्भुतम्।।
दुष्टदुर्दर्शनोन्मत्तहिंस्रव्यापादकादि यत्।
तत् स्याद् भयानकरसे प्रयोगे चित्रकर्मणः।।
श्मशानगर्हिताघातकरणं स्थानदारुणम्।
यच्चित्रं चित्रविज्जुष्टं तद्वीभत्सरसोद्भवम्।।
यदा विनीतरोमांचचिन्ताक्षुण्णमुखाननम्।
प्रदर्शयति चान्योन्यं तदद्भुतरसाश्रयम्।।
यद्यत् सौम्याकृतिध्यानधारणासनबन्धनम्।
तपस्विजनभूयिष्ठं तत्तु शान्ते रसे भवेत्।

(विष्णुधर्मोत्तर पुराण, चित्रसूत्र, ४३ १-१०)

श्रृंगार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ चित्र में रस माने गए हैं।

उनमें से जो भी (रूप) कान्ति, लावण्य, लेखा (रेखा), माधुर्य से सुन्दर है, विदग्ध वेष आभरण वाला है, वह श्रृंगार रस में हो।

जो कुब्ज, वामन जैसे, थोड़े विकट दिखने वाला (रूप) है, (जिसमें) वृथा हाथ को सिकोड़ कर रखा गया है, वह हास्यकर रस में हो।

याचना, विरह, संत्याग, विक्रय (संपत्ति का बिक जाना) व्यसनादि (विपत्ति आदि) में जो अनुकम्पित (रूप) हो, उसे करुण रस में लिखना (चित्रित करना) चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पारुष्य, विकृति, क्रोधाविष्ट के अर्थोक्त दूषण (जली-कटी बातों से दूषण लगाना), चमकीले शस्त्र से आघात करने जैसा 'कृत' (मुद्रा) रौद्र रस में रहे।

प्रतिज्ञा, गर्व, शौर्य आदि अर्थों में औदार्य-दर्शन (रूप), स्मय (गर्व या हेकड़ी) से युक्त, भृकुटी से युक्त वीर अद्भुत (रूप) वीर रस में हो।

दुष्टदर्शन, उन्मत्त, हिंस्र, व्यापादक (मारने वाला) आदि जो (रूप) है, वह चित्रकर्म के भयानक रस के प्रयोग में (रहे)।

श्मशान (वासी) गर्हित (घृणित) घात करने वाला (रूप) स्थान के कारण दारुण (रूप) जो चित्रविदों द्वारा आश्रित है, वह बीभत्स रस का उद्भव (स्थान) है।

जब विनीत, रोमांच (से युक्त) चिन्ता से क्षुण्ण, आनत मुख वाला (रूप) एक-दूसरे को दिखाता है, वह अद्भुत रस का आश्रय है। (अन्योन्य—प्रदर्शन का तात्पर्य अस्पष्ट है)।

जो-जो कुछ सौम्य आकृति वाला ध्यान, धारण, आसन के बन्धन (से युक्त), तपस्विजन—भूयिष्ठ (तपस्वियों का जिसमें बाहुल्य) है, वह तो शान्त रस में हो।

३. विष्णुधर्मोत्तरपुराण में रसों और रंगों का सम्बन्ध

विष्णुधर्मोत्तर पुराण (खण्ड ३, अध्याय ३०, श्लो० २-६ कख) में शान्त को स्वभाव-वर्ण कहकर शेष आठ रसों के रंग नाट्यशास्त्र की भाँति ही बताये गये हैं। (देखें ऊपर ढ)

(त) पूर्वरंग में अंगऔर गीत का स्वप्रतिष्ठितत्व

इह तु गीतमंगं च द्वयमपि स्वप्रतिष्ठितम्। तथा हि यस्य यादृशं लययतिस्वरूपादिकं निरूपितं तन्न विपर्येति मन्त्रादिवत्।

(ना० शा० ४, अभिनव भारती, पृ० १६६)

यहाँ (पूर्वरंग) में तो गीत (गान, वीणा, वंश) और अंग (आंगिक अभिनय अथवा अंग-संचालन) दोनों ही स्वयंप्रतिष्ठित हैं। इसलिए यहाँ जिस (गीत या अंग) का जो लय-यति-मय स्वरूपादि बताया है, वह वेदमन्त्र की भाँति बदलता नहीं (जबकि नाट्य में अवस्थानुसार परिवर्तन अवश्यंभावी है)।

(थ) नाट्य में गीतादि का उपरञ्जकत्व

चतुर्विद्यातोद्यमुपरञ्जकम्। उपरञ्जनीयश्चाभिनयः।

(ना० शा० २८, पृ० २)

चतुर्विध आतोद्य (वाद्य) उपरञ्जक हैं। और अभिनय उपरञ्जनीय है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(द) अद्‌भुत का सब रसों में अनुस्यूतत्व

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्‌भुतो रसः।।
(साहित्यदर्पण ३.३ पर ग्रन्थकार कृत-व्याख्या में धर्मदत्त के नाम से उद्‌धृत)

रस में सार है चमत्कार जिसकी सर्वत्र अनुभूति होती है। इसलिए चमत्कार का सारत्व होने से अद्‌भुत रस सर्वत्र है। इसलिए कृती नारायण ने अद्‌भुत को ही रस कहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३

रस-सिद्धान्त के पल्लव, ध्वनि-सिद्धान्त में

आज इस व्याख्यान-माला का तृतीय चरण है। जैसा कि मैंने कल निवेदित किया था, आज रस-सिद्धान्त के पल्लवन की कुछ चर्चा मैं करूँगी। किस प्रकार इसका पल्लवन हुआ, इस प्रसंग में विशेष रूप से मैं पहले साहित्य के ध्वनि-सिद्धान्त की चर्चा करना चाहूँगी, जिसने कि मुझे लगता है, अनेक कलाओं के चिन्तन को प्रभावित किया है। कम से कम संगीत को तो बहुत प्रभावित किया है। वह कैसे, इसका मैं थोड़ा-बहुत निरूपण करूँगी। पहले ध्वनि-सिद्धान्त की बहुत जो मोटी-सी बात है, उसकी ओर इंगित करके तब आगे बढ़ूँगी।

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रथम ग्रन्थ ध्वन्यालोक के आरम्भ में ही कहा गया है कि यह जो काव्य में ध्वनि की बात हम कर रहे हैं, इसके सदृश या समानान्तर बात वैय्याकरण कर चुके हैं। पहले ही कहा—*'प्रथमे हि विद्वांसो वैय्याकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्'*। (द्र० अनु० ३ क) और वैय्याकरणों ने क्या किया है?

'तैः च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति'। वैय्याकरण यह कहते हैं कि जो वर्ण सुनाई देते हैं, वे ध्वनि हैं। यह जो व्याकरण का स्फोट सिद्धान्त है, मैं बहुत बारीक बातें तो नहीं जानती, मोटे तौर पर इतना-सा समझ पाई हूँ कि उस सिद्धान्त ने इस समस्या को सामने रखकर विचार किया कि श्रवण का व्यापार जो है, यह क्रमिक है। श्रवण का व्यापार बिना क्रम के हो ही नहीं सकता। दर्शन का व्यापार अक्रम भी हो सकता है। हमारे सामने एक चित्र हो तो सिर से पैर तक एक नजर में हम उसे देख सकते हैं, किन्तु एक शब्द को भी हम एकबारगी नहीं सुन सकते। उसके जितने वर्ण होंगे, एक के बाद दूसरा वर्ण सुनेंगे, तो यह श्रवण-व्यापार की जो क्रमिकता है, इसका एक दूसरा भी अर्थ है कि प्रत्येक उच्चरित वर्ण तत्काल नष्ट हो जाता है। फिर उसके बाद दूसरा वर्ण आता है, फिर तीसरा आता है, किन्तु अर्थबोध के लिए तो जो नष्ट हो गये हैं वर्ण, उनकी भी जरूरत है। यदि ऐसा होता कि जो भी वर्ण उच्चरित हो रहे हैं किसी पद में, वे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नष्ट हो गये और हमारी बुद्धि से भी विनष्ट हो गये, यदि ऐसा होता कि जो पद उच्चरित हो रहे हैं किसी एक वाक्य में वे भी नष्ट होते चले गये, तो न पद का अर्थ हमें समझ में आयेगा और न कभी वाक्य का अर्थ समझ में आयेगा। जो वर्ण नष्ट हो गये हैं या जो पद नष्ट हो गये हैं और हम पद के अन्तिम वर्ण तक या वाक्य के अन्तिम पद तक जब तक पहुँचे हैं, तब तक अनेकों पद विलीन हो चुके हैं, किन्तु अर्थबोध के लिए परम आवश्यक है कि उन सारे विनष्ट वर्णों या पदों को हम एकबारगी अपनी बुद्धि में पुनः सुन लें। तो इसी को उन्होंने कहा है कि एक तो होता है—शब्द, संस्कृत में जो 'शब्द' है, इसका मतलब अंग्रेजी के 'साउण्ड' के समकक्ष है, 'वर्ड' के समकक्ष 'पद' है। जैसे गीता में कहा कि जब युद्ध आरम्भ होने को हुआ तो ये-ये वाद्य बजने लगे, तो 'स शब्दस्तुमुलोऽभवत्'। बड़ा तुमुल शब्द हुआ। यानी बड़ी भारी आवाज हुई। तो शब्द जो है, उसके अर्थबोध के लिए, वाक्य के अर्थबोध के लिए यह बहुत आवश्यक है कि जो क्षण-क्षण में विलीन होते हुए वर्ण हैं, या पद हैं, उनको हम एकबारगी पुनः सुन सकें। यानी वे बुद्धि में रहने चाहिए और जो हम उनको अपने भीतर ही दुबारा सुन लेते हैं अर्थबोध के लिए, उसी को उन्होंने कहा है 'शब्दज शब्द' (द्र० अनु० ३ ख) यानी शब्द स्वयं एक अन्य शब्द को जन्म देता है, जो कि हमें इस बाह्य भूताकाश में नहीं सुनाई देगा। भूताकाश में पुनः वह उच्चरित नहीं होगा, लेकिन हमारे अपने चित्त के आकाश में उसे हम जरूर दुबारा सुन पाते हैं, वह जो सुन पाते हैं, उसको उन्होंने कहा है ध्वनि। यह 'शब्दज शब्द' जो है, इसको ध्वनि कहा।

अब इसी सादृश्य पर यह जो काव्य का ध्वनि-सिद्धान्त है, इसमें अर्थ पर विचार किया और यह कहा कि जैसे शब्द का अनुरणन होता है, वैसे ही अर्थ का भी अनुरणन होता है, और उदाहरण दिया घण्टे के अनुरणन का—'घण्टा-निर्ह्लादस्थानीयोऽनुरणनात्मा' यह जो 'शब्दज शब्द' या जो ध्वनि है, जिसे हम दुबारा सुन लेते हैं, चाहे पूरे वर्ण को, या पूरे वाक्य के पदों को, यह जो ध्वनि है, यह कैसी है, इसके लिए कोई उदाहरण यदि स्थूल जगत् में है, तो बड़ा अच्छा उदाहरण है घण्टे में जो अनुरणन निकलता है उसका। इस सारे चिन्तन में बहुत-सी बातें अन्वित हैं। जो मोटी-मोटी बातें मुझे समझ में आती हैं, उनको निवेदित करूँगी। और रस के साथ कैसे जोड़ा है, यह भी कहूँगी।

यह जो घण्टे का उदाहरण दिया, इसमें तो जो श्रोता है, उसकी संवेदन-शीलता भी अन्वित है। घण्टे पर जो पहली चोट पड़ी, उसको सब कोई एक तरह से सुन लेगा। उसमें कोई व्यक्तिगत संवेदनशीलता की बात उतनी नहीं उठेगी। सब कोई उसको एक-सा सुन सकता है। लेकिन उसके अनुरणन को कितनी दूर तक कौन सुन सकता है, यह उसकी संवेदनशीलता और एकाग्रता पर निर्भर होगा। कोई थोड़ी दूर सुनेगा, कोई अधिक दूर सुनेगा, कोई और अधिक दूर सुन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकता है। कभी-कभी योगाभ्यास में भी यह कहा जाता है कि घण्टे के अनुरणन को देर तक सुनने का अभ्यास भी एक अभ्यास है, क्योंकि उसमें चित्त की बहुत एकाग्रता हो जाती है। वह अभ्यास यहाँ तक बढ़ सकता है कि यदि भौतिक रूप से वह अनुरणन समाप्त भी हो जाय, तब भी कुछ देर तक हमें सुनाई देता रहे, यहाँ तक हो सकता है, वह अभ्यास। उसी प्रकार काव्य में (उन्होंने तो काव्य की बात ही की है, पर हम किसी भी कला की बात कर सकते हैं) या किसी भी कला में जो श्रोता है, या गृहीता है किसी भी रूप से, या दर्शक है, उसकी अपनी संवेदन-शीलता का भी, जो कुछ अनकहा है, उसको समझने में बहुत अधिक योगदान है। सब कुछ कभी भी कला में कहा नहीं जा सकता। बहुत कुछ अनकहा है, यही ध्वनि-सिद्धान्त का मर्म है। जो अनकहा है, उसको समझने के लिए एक विशेष संवेदनशीलता चाहिए। (द्र० अनु० ३ ग) इसीलिए ध्वन्यालोक में कहा भी है कि जो केवल शब्द का अर्थ समझते हैं, वे काव्य को नहीं समझ पाएँगे। काव्य का अर्थ नहीं समझ पाएंगे, क्योंकि शब्द का अर्थमात्र समझने से पूरा काम नहीं बनेगा।

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।

केवल शब्दार्थ के अनुशासन को जो जानता है उसे काव्य का मर्म नहीं समझ में आयेगा।

वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।

इसमें जो 'वृत्ति' है अभिनवगुप्तपाद की, वह बड़ी काम की है, क्योंकि उसमें जो उदाहरण दिया है, वह संगीत का उदाहरण है। इसलिए मेरे लिए विशेष उपयोगी है, वह वृत्ति। वह वृत्ति यह कहती है कि देखिए *'वाच्यवाचकलक्षणमात्र-कृतप्रयत्नः'* अर्थात् किसी ने लक्षण में प्रयत्न किया है, वाच्य-वाचक सब समझ लिया है, लेकिन 'काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानाम्' जिसने काव्य-तत्त्वार्थ की 'भावना' नहीं की है, उसकी ओर से जो विमुख रहे हैं, वे ऐसे ही हैं, जैसे कि कोई गान्धर्व का लक्षण जानता हो, लेकिन अप्रगीत हो, गाया न हो उसने कभी। 'अप्रगीत' कितना बढ़िया शब्द दिया है। कहा कि 'गान्धर्वलक्षणविदामप्रगीतानाम्' उनको क्या नहीं समझ में आयेगा? 'स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिव,' उनको स्वर-श्रुत्यादि का लक्षण नहीं समझ में आयेगा। केवल यदि गान्धर्व के लक्षण का अभ्यास किया हो, तो कौन-सा स्वर कब चल रहा है, यह नहीं समझ में आयेगा। कहाँ उसकी श्रुति घटी-बढ़ी, नहीं समझ में आयेगा, लक्षण-मात्र से। वैसे ही व्याकरण के ज्ञान से, पद-पदार्थ के ज्ञान से काव्य-तत्त्वार्थ समझ में नहीं आयेगा। यह एक सहृदयता की कसौटी, संवेदनशीलता की कसौटी या एक उसकी जरूरत, उसकी एक अनिवार्य शर्त पल्लवित हुई है ध्वनि-सिद्धान्त में आकर। ऐसा नहीं कि पहले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं थी। मैंने पहले भी कहा कि ना० शा० में कह दिया कि 'सुमनसः पुरुषाः' उसमें शायद सब कुछ आ गया हो, उसकी दृष्टि से। अच्छे मनवाले पुरुष, जो रसना का रस है, उसको भी ग्रहण करते हैं, और नाट्य के रस को भी ग्रहण करते हैं। मन ठीक होना चाहिए, सुमनसः इतना विशेषण वहाँ लगाया है, किन्तु फिर भी ध्वनि सिद्धान्त में आकर यह जो आश्रयगत तत्त्व है, यानी आश्रयगत जो एक अनिवार्य संवेदनशीलता है, उसकी ओर बहुत ही समर्थ रीति से, बहुत समर्पक रीति से बहुत अधिक ध्यान दिलाया गया है। सहृदय होगा, तो ही समझेगा और वैसे ही जो वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ है, उसे हर व्यक्ति अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार समझेगा। देश-काल पात्र के अनुसार उसके अलग-अलग अर्थ हुआ करते हैं। यह जितनी सारी विवेचना है व्यंग्यार्थ की, यह सारी की सारी हमें सहृदयता की ओर और संवेदनशीलता की ओर इंगित करती हुई प्रतीत होती है। यह एक बहुत बड़ी देन है ध्वनि-सिद्धान्त की।

यह जो अनुरणन की बात है, इसको मैं थोड़ा-सा संगीत के साथ जरूर जोड़ूँगी क्योंकि संगीत में स्वर की जो व्याख्या है, उसमें अनुरणन का विशिष्ट स्थान है। स्वर शब्द व्याकरण में भी आया है और संगीत में भी। ध्वनि-सिद्धान्त के आविर्भाव से पहले स्वर शब्द की जो व्याख्या व्याकरण में थी, वही संगीत में भी कर दी जाती थी। व्याकरण में 'स्वयं राजन्त इति स्वराः' कहते हैं। जो स्वयं प्रकाशित हो, उसका अर्थ हम लोग यह समझ लेते हैं कि व्यंजन को उच्चरित होने के लिए स्वर की सहायता की आवश्यकता है, लेकिन स्वर को किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं उच्चरित हो सकता है। 'स्वयं राजत इति स्वरः' या 'स्वयं राजन्त इति स्वराः'। यह व्याख्या व्याकरण के स्वर के लिए बिल्कुल ठीक है, भाषा में जो स्वर है, उसके लिए ठीक है। भरत के ना० शा० में तो संगीत के स्वर की कोई व्याख्या नहीं है, इतना ही कह दिया कि सप्त स्वर हैं: षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद, इतना-सा कह दिया, क्योंकि ना० शा० की पद्धति इतनी लक्षणपरक नहीं है, लक्ष्यपरक अधिक है। लक्ष्यैक-चक्षुष्क जिनको कहा जाता था वे हैं भरतमुनि लक्षणैकचक्षुष्क नहीं है वे, लक्षण से वे लक्ष्य को नहीं देखते हैं, वे तो स्वयं लक्षण बनाने वाले हैं, इसलिए लक्ष्य पर उनकी अधिक दृष्टि है। तो षड्ज, ऋषभ, गान्धार मध्यम आदि कह दिया। स्वर शब्द की कोई व्युत्पत्ति या कोई व्याख्या करने की उन्होंने जरूरत नहीं समझी। (द्र० अनु० ३ घ) जब सबसे पहले मतंग की बृहद्देशी में स्वर शब्द की व्युत्पत्ति आयी, तो वही 'स्वयं राजन्त इति स्वराः' कहकर 'राजृ दीप्तौ' के अनुसार वहीं का वही व्याकरण वाला सब कुछ कह दिया।

पहली बार अभिनवभारती में अभिनवगुप्तपाद ने संगीत के स्वर की व्याख्या में अनुरणन को लाया है और यह अनुरणन चाहे तो व्याकरण के ध्वनि-सिद्धान्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से समझ लें, या काव्य के ध्वनि-सिद्धान्त से समझ लें, किन्तु वहीं से आया है। चाहे स्फोट में से आया हो या काव्य के ध्वनि सिद्धान्त में से। (द्र० अनु० ३ ङ) तब स्वर की व्याख्या यह बनी कि जो अनुरणनात्मक है, वह स्वर है और जब अनुरणनात्मक है, तो इसके साथ ही फिर 'स्वयं राजन्ते' की जगह 'स्वयं रञ्जयति' अपने आप जो रंजन करने में समर्थ है, 'स्वतो रंजयति' या 'स्वयं रंजयति' यह व्याख्या बनी, 'स्वयं राजते' अथवा 'स्वतो राजते' की जगह। इसमें बहुत-सा अर्थ अन्वित है। 'स्वतो रंजयति' का मतलब क्या है? जो बिना किसी बाह्य सन्दर्भ के, बिना किसी बाह्य तत्त्व की ओर इंगित किये स्वयं अपने आप हमारे चित्त को आकर्षित करता है। यह बात भाषा के वर्णों में नहीं है, क्योंकि भाषा के वर्णों में तो तुरन्त किसी-न-किसी अर्थ से यदि सम्बन्ध नहीं होगा तो हमारे लिए कोई आकर्षण का उनमें कारण नहीं है। यदि अर्थबोध नहीं होता, यदि हमें उस भाषा का ज्ञान नहीं है, तो उसके शब्दों को सुनकर भी हमें उनके प्रति कोई आकर्षण का कारण नहीं है। हाँ, उसमें नादात्मक अंश जो है, वह मधुर हो, तो बात अलग है। तब फिर वह भाषा नहीं है न, वह तो भाषा का नादात्मक अंश है, उसको हम थोड़ी देर के लिए छोड़ देते हैं।

संगीत का स्वर क्यों बोलचाल की ध्वनियों से भिन्न है? इसलिए कि वह अनुरणन--प्रधान है। आघात तो उसमें भी है, जैसे घण्टे में से अनुरणन प्राप्त करने के लिए एक बार तो हथौड़े की चोट या आघात करना ही पड़ता है। बिना आघात के अनुरणन नहीं मिलेगा, वैसे ही चाहे कण्ठ से हम स्वर निकालें और चाहे वाद्य से निकालें, आघात तो उसमें होता ही है। वाद्य में किसी-न-किसी प्रकार से आघात तो है ही, चाहे वह छेड़ने का एक प्रकार है या प्रहार का प्रकार है; छेड़ना उँगली से भी हो सकता है, छेड़ना किसी और पदार्थ से भी हो सकता है। पक्षियों का पंख लेकर उसकी नली से भी छेड़ते हैं लोग, और भी तमाम चीजें हैं, धातु के कोण से छेड़ा जा सकता है, ये सब हैं, लेकिन आघात की जो प्रथम ध्वनि सुनाई देगी वह आघातात्मक होगी और उसके बाद जो उसका सातत्य कुछ देर तक चलता है, वह अनुरणनात्मक है और संगीत में, चाहे वह गायन हो या वादन, उसमें यही साधना पड़ता है कि आघात न्यूनतम हो और अनुरणन अधिकतम हो। यही सधे हुए गले में और बिना सधे गले में अन्तर होगा और यही सधे हुए वादक के हाथ में और बिना सधे हुए हाथ में अन्तर होगा। जो आदमी नया-नया सितार बजाना शुरू करता है उसमें 'टक-टक-टक' आवाज ज्यादा आती है। आघातात्मक ध्वनि अधिक आती है। जब हाथ सध जाता है, तो आघात तो होगा ही, आघात के बिना तो काम नहीं चलने का, पर वह इतना प्रबल नहीं होगा कि अनुरणन को ढक ले। वह अनुरणन को व्यक्त करने के लिए होगा, उतना ही-सा होगा। यही साधना है हाथ में, गले में भी वही है। गायक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोग कहते हैं कि इस आदमी के गले में या इस महिला के गले में जवारी है। यह उनकी भाषा है, जवारी है का मतलव अनुरणन है इसकी आवाज में। तो, इस प्रकार संगीत का जो स्वर-विषयक चिन्तन था उसमें ध्वनि-सिद्धान्त, चाहे वह व्याकरण का समझ लें या हम काव्य का समझ लें, सहायक हुआ है 'स्वयं राजन्ते' से 'स्वतो रंजयति' तक की यात्रा में। यह एक लम्बी यात्रा है चिन्तन की, जो कि जुड़ी हुई है ध्वनि-सिद्धान्त के साथ।

यह अनुरणन शब्द बहुत काम का है। अभिनवगुप्तपाद ने इस पर तन्त्रालोक में (द्र० अनु० ३ च) और ज्यादा लिखा है और संगीतात्मक ध्वनियों का भी विश्लेषण किया है कि कैसे वीणा का स्वर अधिक अनुरणनात्मक है, और अवनद्ध वाद्यों का उतना अनुरणनात्मक नहीं है, उनमें आघात प्रवल है। इस तरह का बहुत चिन्तन हुआ है, और यह ध्वनि-सिद्धान्त के साथ जुड़ी हुई बात है।

काव्य के लिए भी यह माना गया कि जो कुछ सीधे कह दिया गया, उससे अधिक प्रवल या उससे अधिक सुन्दर, लावण्यमय, उससे अधिक रमणीय, उससे कहीं अधिक चारुतर या चारुतम है जो अनकहा है और वह सहृदयसंवेद्य है, वह केवल भाषा के पद-पदार्थ जानने वाले के लिए संवेद्य नहीं है। एक तो यह पल्लवन है जो कि रस के साथ जुड़ा हुआ है। अव प्रश्न है कि रस के साथ कैसे जुड़ा हुआ है? जैसे यह ध्वनि-सिद्धान्त की बात आयी, तुरन्त उसी में यह प्रतिपादन बड़े जोर से किया गया कि रस या भाव जो है, वह वाच्य नहीं है। यानी रस-भावों के नाम हमने दे दिये हैं, यह ठीक है, लेकिन ऐसा नहीं समझा जा सकता कि उस-उस शब्द के उच्चारण से उस-उस भाव का अनुभव हो जाएगा। वह नहीं होगा। इस बात को इस भाषा में कहा ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने कि भाव या रस जो है, वह वाच्य नहीं है। (द्र० अनु० ३ छ) उनके नाम हमने रखे हैं जरूर, पर उन शब्दों से उन भावों का या उस रस का हमें वोध या उसकी अनुभूति नहीं हो सकती। अनुभूति तभी होगी, जव वह अपने पूरे परिवार, अपने परिकर के साथ आयेगा, विभाव-अनुभाव के साथ आयेगा तव यदि हम उसका नाम न भी लें, तो अपने आप समझ में आ जाएगा। जो समर्थ कवि है, वह विना नाम लिए भाव को समझा देता है और कभी-कभी समर्थ कवि यदि भाव का नाम ले भी ले तो कोई बात नहीं, लेकिन भाव का नाम लेगा तो वह उसके साथ और भी कुछ करेगा, यह कभी नहीं वह समझेगा कि भाव का नाम लिया और काम वन गया। कालिदास का उदाहरण लोग हमेशा देते हैं :

> एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
> लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥
>
> (कुमारसम्भव, ६.८४)

यह एक प्रकार की लज्जा का प्रसंग है पार्वती के लिए कि उनके सामने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बैठकर नारद उनके भावी पति के गुणों का वर्णन कर रहे हैं। पिता बैठे हैं सामने, नारद बैठे हैं। अब कालिदास ने यह नहीं कहा कि उस समय पार्वती को बड़ी लज्जा का अनुभव हुआ। यह नहीं कहा। इतना ही कहा कि उसके हाथ में जो लीलाकमल था उसके पत्तों को वह गिनने लगी। जब हम किसी झेंप की स्थिति में होते हैं, जिसको हम अंग्रेजी में 'ऐम्बरेसमेण्ट' कहते हैं, तो कभी कोई अपने आँचल या रूमाल के कोने मोड़ने या लपेटने लगता है, कोई अँगूठी निकालने लगता है, कुछ न कुछ ऐसा हम करने लगते हैं, जिसका कि कोई प्रयोजन नहीं है। पत्तों को गिनने का कोई प्रयोजन है ? ऐसा तो नहीं कि उस गिनती से कोई हिसाब लगाना है, लेकिन अपनी झेंप को ढकने के लिए, अपने अन्तर के विचलित भाव को थोड़ा-सा ढकने के लिए, उसको कोई मार्ग देने के लिए हम लोग ऐसा करते हैं। अब न तो कालिदास ने झेंप शब्द का इस्तेमाल किया है, इसके समानार्थक किसी शब्द का भी इस्तेमाल नहीं किया। *'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती'* कहकर ही सहृदयों के लिए, पार्वती की सारी जो मनःस्थिति है उस समय की, वह सामने रख दी है।

इस बात का बड़े जोरदार शब्दों में बार-बार ध्वन्यालोक में प्रतिपादन हुआ कि रस जो है, वह वाच्य नहीं है। यह भी एक प्रकार से मैं समझती हूँ रस-सिद्धान्त पर चिन्तन में एक चरण आगे बढ़ने की बात है। ना० शा० में इस प्रकार की कोई बात नहीं है, उसकी कोई वहाँ जरूरत भी नहीं है। क्योंकि वह तो मुख्यतः प्रयोक्ता के लिए है। प्रयोक्ता तो अपना काम करेगा, उसको यह सिद्धान्त मालूम हो, या न मालूम हो। केवल व्याख्या के लिए या केवल प्रतिपादन के लिए तो है नहीं ना० शा०, दार्शनिक प्रतिपादन के लिए तो है नहीं वह। उसका प्रयोजन बिल्कुल भिन्न है और पद्धति बिल्कुल भिन्न है। मूल उसमें सब कुछ है, यह बिल्कुल ठीक है, पर ये पल्लव जो हैं, यह भी हमें बड़ी मदद करते हैं ना० शा० को ही समझने में।

तीसरी बात, जो कि ध्वन्यालोक में जो ध्वनि-सिद्धान्त आया है, उससे जुड़ी हुई मुझे लगती है, जिसने मुझे लगता है, समस्त कलाओं को प्रभावित किया है, वह यह है कि प्रबन्ध के द्वारा ही रस-निष्पत्ति हो सकती है, ऐसी यदि धारणा कोई रही हो, तो उसको बिल्कुल समूल उखाड़कर उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि मुक्तक भी प्रबन्ध की तुलना में ठहर सकता है, यदि समर्थ कवि है तो और अमरुक का उन्होंने उदाहरण दे दिया। यह कहा कि जो मुक्तक का रचयिता है, जो कवि है :

मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते।

(ध्व० अनु० ३ ज)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐसे कवि दिखाई देते हैं, जो मुक्तक बनाते हैं, लेकिन उनका रस में अभिनिवेश उतना ही है, जितना कि प्रबन्ध के निर्माता कवि का होता है :

यथा हि अमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः, शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः।

अमरुकशतक का एक-एक जो पद्य है, वह एक-एक मानो प्रबन्ध है। *'प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव'*। काव्य में तो हम मुक्तक की बात कर लेते हैं, अन्य कलाओं में यदि हम थोड़ी-सी दृष्टि घुमाएँ तो काव्य में जो स्थान मुक्तक का है, चित्रकला में वही स्थान 'मिनिएचर' का है। यानी एक तो चित्र में यह संभावना है कि पूरी हमने एक कोई घटना लेकर उसके एक-एक अंग को एक भित्ति पर या एक शैल की गुहा में एक क्रम से अंकित किया हो, जिसमें एक पूर्वापर-सम्बन्ध हो। वही प्रबन्धात्मकता है, जिसमें पूर्वापर हो, चित्र की एक तो वह परम्परा है और 'मिनिएचर' जो है, ये एक-एक चित्र अपने आप में भी संपूर्ण हैं। जैसे कि एक-एक मुक्तक अपने आप में संपूर्ण है काव्य में, वैसे ही संगीत में यदि देखें तो मैं वही कहूँगी कि नाट्य से स्वतन्त्र संगीत जो है उसमें प्रबन्ध या बन्दिश मुक्तक-स्थानीय है। नाट्य के साथ जो संगीत चलेगा वह तो उसके साथ बहता हुआ चलेगा, उसमें पूर्वापर सम्बन्ध की सारी जरूरत पड़ेगी। क्या हो चुका है, आगे क्या होने वाला है, उसके हिसाब से ढोल बजाओ, उसके हिसाब से नगाड़ा बजाओ, यह सारे का सारा उसके साथ जुड़ा हुआ है, किन्तु अब कोई एक प्रबन्ध या बन्दिश है, वह काव्य की दृष्टि से मुक्तक ही है। संगीत में उसको प्रबन्ध कहते हैं, जो कि तीन-चार खण्डों में बना हुआ गीत है। यहाँ प्रबन्ध संज्ञा पारिभाषिक है, उसे काव्य वाले प्रबन्ध के तुल्य न समझें, उसमें भी एक संरचना है। संरचना तो है, किन्तु वह अपने आप में पूर्ण है।

जैसे जयदेव के गीतगोविन्द के गीत हैं, उनमें थोड़ी-सी प्रबन्धात्मकता फिर भी है, क्योंकि कौन वक्ता है, कौन श्रोता है, कौन-सा प्रसंग है, इतना वे थोड़ा-सा कहते चलते हैं। गीतों के बीच-बीच में जो श्लोक आ जाते हैं, वे यह बता देते हैं कि अब इस समय अमुक ने अमुक से ऐसा कहा, तो फिर गीत आ गया। वह गीत जो है, एक प्रकार से मुक्तक भी है और एक प्रकार से बहुत गाढ़ बन्ध वाले 'प्रबन्ध' (काव्य) का तो नहीं, किन्तु बहुत शिथिल बन्ध वाली रचना का अंग भी है। उसका जो बन्ध है, बड़ा सूक्ष्म है, शिथिल न कहें, शायद शिथिल से कोई दोष समझा जाय, दोष से मेरा मतलब नहीं है। लेकिन एक बड़ा बन्ध यदि वहाँ है तो वह बड़ा सूक्ष्म है, कोई दृढ़ बन्ध नहीं है उन गीतों में, फिर भी है। और एक समय में पारम्परिक गायकों में तो यह मान्यता थी कि कभी गीतगोविन्द का कोई एक पद अकेला नहीं गाना चाहिए। जब गाना हो तो पूरा गीतगोविन्द गाना चाहिए। ऐसा उड़ीसा में मुझे लोगों ने बताया कि पुराने परम्परागत लोग कभी इस बात

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को पसन्द नहीं करते थे। वे सोचते थे यह दोष है, गाना है तो पूरा अथ से इति तक गाना चाहिए, कोई एक गीत उसमें से उठाकर अलग से गा लेंगे, यह ठीक नहीं है। फिर ऐसे भी गीतप्रबन्ध बने जो कि अपने आप में पूर्ण थे, जिनका किसी से भी पूर्वापर सम्बन्ध कुछ नहीं है। काव्य के मुक्तक-स्थानीय वे हो सकते हैं और यह सारी की सारी गेय-प्रबन्ध की परम्परा प्रायः-प्रायः उसी काल की है, जिस काल का व्याकरण का यह ध्वनि-सिद्धान्त है। पाँचवीं-छठी शताब्दी या छठी-सातवीं शताब्दी में आकर उसका एक निखरा हुआ रूप मिलता है, फिर और निखरता चला जाता है बाद में तेरहवीं शताब्दी तक। तो, यह भी एक समानान्तर धारा है, ऐसा मुझे लगता है। यह जो व्याकरण का ध्वनि-सिद्धान्त, उससे प्रभावित काव्य में चिन्तन जिसने कि मुक्तक को लाकर प्रबन्ध के समकक्ष बैठा दिया, इसका अन्य कलाओं पर भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। या तो प्रभाव न हो, तो हम कहें कि ऐसा ही कुछ अन्य कलाओं में भी उसी काल में हो रहा था। इतना तो कह ही सकते हैं। अब किसका किस पर प्रभाव है, यह कैसे निर्णय किया जाय, इसमें झगड़ा भी हो सकता है। परन्तु ये समकालीन घटनाएँ हैं, जो कम से कम तीन दिशाओं में दिखाई देती हैं, काव्य में, संगीत में और चित्र में। चित्र में भी उसके बीज हमें तभी से मिल जाएँगे, उसका पल्लवन तो जाकर १५वीं-१६वीं शताब्दी में होता है 'मिनिएचर' का, पर कुछ न कुछ आरम्भ अवश्य हो गया होगा या चिन्तन इस दिशा में चल पड़ा होगा, इतना कहा जा सकता है।

अब यह जो मुक्तक है, उसमें भी उन्होंने कहा कि रसबोध हो सकता है, तो उसकी बिल्कुल सीधी व्याख्या कर ही दी अभिनवगुप्तपाद ने :

पूर्वापरनिरपेक्षेणापि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्।

(ध्व० ध्वन्० ३ ब)

जिसमें पूर्व और अपर की कोई अपेक्षा नहीं है, और फिर भी रसचर्वणा होती है वह मुक्तक है, लेकिन हम जानते हैं कि थोड़ा-सा पूर्व-अपर मुक्तक को समझने के लिए भी पाठक को जोड़ना पड़ता है। यह आप सब जानते होंगे, आप लोग साहित्य के अध्यापक हैं, आचार्य हैं। बिहारी का दोहा कोई-सा भी पढ़ाया ज़ाता है, तो यह बताया जाता है या उसकी टीका में यह पूर्वापर लिखा जाता है। टीका क्यों करनी पड़ती है या की जाती है। एक छोटे-से 'मिनिएचर' रूप में बहुत ही सूक्ष्म रूप में एक प्रबन्धात्मकता का आवरण मुक्तक को पहना दिया जाता है। लेकिन कवि ने वह सहृदय पर छोड़ दिया है कि वह स्वयं कर लेगा। कवि नहीं करता उसे, बस इतना ही अन्तर है, लेकिन पाठक को तो थोड़ा-सा करना ही पड़ता है। यदि हमें रस की बात करनी है, तो फिर थोड़ा-सा पूर्वापर भी करना पड़ता है, नहीं तो टीकाएँ क्यों लिखी गयी हैं? ये सब जितने मुक्तक हैं, इनकी टीकाएँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिखी गयी हैं, इसीलिए लिखी गयी हैं कि प्रत्येक मुक्तक के प्रसंग को स्पष्ट किया जाय। उस देश, काल, पात्र को स्पष्ट किया जाय, जहाँ की यह वात है। तव फिर उस मुक्तक का चमत्कार और अधिक स्फुट होता है। वह तो ठीक है, किन्तु कवि ने वह सब अपने मन में रखकर मुक्तक वना दिया है, पूर्वापर उसने कहा नहीं है, आपको जो समझना हो समझ लीजिए। इतनी वात जरूर है कि कोई उसकी शायद कैसी व्याख्या कर दे और कोई शायद अन्य ढंग से कर दे, यह सब सम्भव है। कोई असम्भव नहीं है और ऐसा होता भी है। तो उसमें एक प्रकार की छूट है यानी हम वँधे नहीं हैं विल्कुल। कवि ने हमें वाँधा नहीं है, खुला छोड़ दिया है और हमें सोचना है कि किस अवस्था की या किस परिस्थिति की कल्पना करके कवि ने यह मुक्तक रचा होगा। इसी कारण सहृदय का योगदान फिर उसमें बहुत वड़ा हो जाता है। प्रवन्ध में सहृदय को अपनी ओर से उतना कुछ करने की जरूरत नहीं है, वह तो अपने आप होता चला जाता है। यहाँ अपने से हमें, जो कुछ नहीं कहा है, उसे भरना है; रिक्तियों को कोई कैसे भरेगा, कोई कैसे भरेगा, इसमें अपनी-अपनी संवेदनशीलता, अपनी-अपनी कल्पनाशक्ति, अपनी-अपनी सर्जनात्मकता काम करेगी।

यह एक वहुत नया क्षेत्र पूरे कला जगत् में खुला है, मुक्तक की प्रतिष्ठा से। वह मुक्तक संगीत में भी देखा जा सकता है, चित्र में भी देखा जा सकता है, साहित्य में भी देखा जा सकता है, वहुत स्पष्ट रूप से। आप कहेंगे कि इसमें रस की वात कहाँ है? रस की वात यही है कि यह भी मान लिया गया कि मुक्तक के द्वारा भी रस का आस्वादन हो सकता है, कोई जरूरी नहीं है कि प्रवन्ध के द्वारा ही यह प्रतिपादन हो सके। दूसरी ओर यह प्रतिपादन कि रस जो है, वह वाच्य नहीं है, व्यंग्य ही है, इससे रस-सिद्धान्त को एक नया आयाम मिला है, रस-सम्वन्धी चिन्तन को एक नई दिशा मिली है और फिर यह प्रतिपादन है कि इस अनकहे को जो समझना है, वह ऐसा ही है, जैसे कि घण्टे के अनुरणन को एकाग्र होकर सुनना, उसमें जैसी एकाग्रता और संवेदनशीलता चाहिए, वैसी ही इसमें भी चाहिए। और यदि देखें, तो ध्वनि-सिद्धान्त का जो मुख्य प्रतिपादक ग्रन्थ है ध्वन्यालोक, उसमें सव कुछ, चाहे वह वर्णसंघटना हो, चाहे अलंकार-ध्वनि हो, या वस्तुध्वनि हो, सवका पर्यवसान, सवका चरम उद्देश्य एक प्रकार से रस को वनाकर रख दिया है, यह भी एक वहुत वड़ी देन है इस सिद्धान्त की कि इस प्रकार का समन्वय किया है काव्य के सभी तत्त्वों का या सभी अंगों का कि जिससे सब रास्ते जैसे एक ही ओर जा रहे हैं और अन्तिम गन्तव्य, अन्तिम लक्ष्य जैसे सवका रस ही है। यह भी इस सिद्धान्त की और इस चिन्तनधारा की वहुत वड़ी देन है।

अव जरा-सा मैं इस पर कुछ कहना चाहूँगी कि यह जो ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ ध्वन्यालोक में, (द्र० अनु० ३ ञ) इस प्रतिपादन के बीच क्रम से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कम तीन-चार बार आनन्दवर्धन ने संगीत का दृष्टान्त दिया है। और वह भी वीणा का दृष्टान्त दिया, गीत का नहीं, क्योंकि गीत फिर भी काव्य के निकट आ जाता है, क्योंकि उसका एक अंग पद भी है। कल मैं समयाभाव से पद की चर्चा नहीं कर पाई, आज थोड़ी-सी जरूर करूँगी, क्योंकि वह इस प्रसंग में जरूरी है। जो गीत है या जो गेय है, जो भी कहें, उसमें स्वर, ताल और पद ये तीन उसके घटक हैं। प्रायः सार्थक पद का ही हम गान करते हैं, तराना वगैरह में निरर्थक का भी करते हैं, वह ठीक है, किन्तु प्रायः सार्थक पद का करते हैं, सार्थक पद से गीत को अर्थ की एक सुनिश्चित दिशा अवश्य मिल जाती है, कम से कम किस अवस्था का निरूपण हो रहा है, इतना पता चल जाता है, हालांकि उस अर्थ की दिशा में कोई वात वहुत आगे नहीं वढ़ती। गीत का जो अपना सारा विस्तार है, उसमें पद का कोई विस्तार नहीं होता, पद तो वहुत छोटा ही-सा होता है और गायक आधा घण्टा जव उसको गाता है तो वहाँ कोई पद की दृष्टि से वात आगे नहीं वढ़ती, कुछ भी नहीं वढ़ती, वह तो जहाँ की तहाँ रहती है, लेकिन गायक उसमें नये-नये ढंग से जो कुछ करता है, असली रसास्वाद तो उसी से होना है। हाँ, पद से उस रसास्वाद की प्रक्रिया को एक निश्चित दिशा मिलने की एक सम्भावना अवश्य रहती है। इतना जरूर है कि कहीं धरती पर पैर रखने को स्थान है। लेकिन जव वीणा वज रही है, तो उसमें तो पद भी नहीं हैं, तो अर्थ की दृष्टि से पैर रखने को कोई ठोस धरती हमारे पास विल्कुल है ही नहीं। वार-वार वीणा का उदाहरण देकर, दृष्टान्त देकर ध्वनिकार कहते हैं कि जहाँ सर्वथा वाचकता का अभाव है, वहाँ भी जव व्यंजना काम करती है, तव जहाँ वाचकता है, वहाँ क्यों न करे? वीणा में तो कोई वाचकता नहीं है। कोई स्वर लगाए तो उसका अर्थ लोटा, थाली, गिलास कुछ नहीं होता, कुछ भी अर्थ नहीं होगा उसका, तो वाचकता के सर्वथा अभाव में भी व्यंजकता वहाँ काम करती है। जव वाचकता के अभाव में करती है, तो जहाँ वाचकता है, उसमें क्यों न करे, यह उसकी विचारसरणि है।

ध्वनिकार तो अपना काम कर रहे थे, मैं अपना काम करने जा रही हूँ। मुझे वह काम नहीं करना है, जो वे कर रहे थे। मैं यह कहना चाह रही हूँ कि वीणा की जो व्यंजकता है, वह गीत की व्यंजकता से कुछ अधिक तरल है। तरल से मेरा मतलव है कि उसको कोई ठोस आकार देना आपके लिए वड़ा मुश्किल है। व्यंजकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, लेकिन वह क्या है, यह कोई कैसे कह सकेगा? उसको शब्दों का जामा पहनाना, उसको कोई 'लेवल' लगाना, उसको कोई नाम देना वड़ा मुश्किल है। वह व्यंजकता ऐसी है, जिसमें कोई वाचकता है ही नहीं, इसलिए वाचकता को छोड़कर आपको कहीं और पहुँचाना है ऐसा कुछ वहाँ है ही नहीं। आप आदि से अन्त तक व्यंजकता में ही डूवते-उतराते रहिए। ऐसा नहीं है कि पहले घण्टे की टकोर सुनी या चोट सुनी, फिर अनुरणन सुना। ऐसा कुछ नहीं है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वहाँ तो अगर कुछ है तो अनुरणन ही अनुरणन है, आपको जो भी समझना हो समझिए। यह उसकी एक बहुत बड़ी अद्वितीयता भी है, क्योंकि काव्य में वैसा नहीं होगा। यह अद्वितीयता भी है और उसका अमूर्तता भी है, सूक्ष्मता भी है। यदि किसी को अमूर्त से परेशानी हो, तो उसको उसमें आनन्द नहीं आयेगा। यदि कोई मूर्त को खोजना चाहे, और उसके आधार पर फिर आगे बढ़ना चाहे, तो उसके लिए कठिनाई होगी, अवश्य कठिनाई होगी। मुझे हमेशा याद आ जाती है हमारे पूज्यपाद हजारीप्रसाद जी द्विवेदी की। वे कई बार कहते थे, ऐसा उदाहरण देते थे अपने भाषणों में कि कोई गवैया गा रहा था—'सोने की गडुरिया, पानी भरन चली' एक श्रोता परेशान उठा कि बात आगे क्यों नहीं बढ़ रही है। घटना का आगे बढ़ना, घटना में एक क्रम आना, यह तो गीत में नहीं मिलेगा। यह उसमें कोई खोजेगा तो मुश्किल है। उसमें आदि से अन्त तक आपको निर्विशेष में ही रहना है, सविशेष की ठोस धरती कहीं मिलनी नहीं है। और अगर खोजने जायें उसमें, तो मिलेगी नहीं और निराशा ही हाथ लगेगी। तब आप कहेंगे कि यह गायक क्या फिजूल बकवास कर रहा है। मान लीजिए कोई आलाप कर रहा है घण्टे भर, ध्रुपद गायक पद तो गाएगा शायद दस मिनट और पैंतालीस मिनट पहले आलाप करेगा, जिसका कि कोई अर्थ नहीं, जिसमें कि पद की कोई धरती नहीं है। जो वह 'नोम्-तोम' अक्षर ले रहा है, उनका कोई अर्थ नहीं है, सार्थक पद है ही नहीं, वाचकता कहीं से कहीं तक नहीं है। बात तो कुछ बनती ही नहीं, आगे बढ़ना तो दूर रहा, शुरू ही नहीं होगी बात। वहाँ तो भला शुरू तो हुई 'पानी भरन चली' इतने से, यहाँ तो कुछ भी नहीं है। इसलिए वाचकता का जहाँ सर्वथा प्रवेश नहीं है, ऐसा उदाहरण देने के लिए वीणा का ही उनको सहारा लेना पड़ा, वह बिल्कुल ठीक था। जहाँ नाद ही नाद है और वर्ण अगर है, तो इतना ही कि जो आघातात्मक ध्वनियाँ हैं, उनका कुछ वर्णों के साथ एक सादृश्य अनादिकाल से बैठाया जाता रहा है, खासतौर से अवनद्ध वाद्यों में। अवनद्ध वाद्यों में प्रहारों को अलग-अलग नाम देते हैं लोग, पढ़न्त करते हैं, आज भी आप सुनते हैं। यह पद्धति ना० शा० से भी पूर्व से चली आयी है, क्योंकि ना० शा० में इसका भरपूर उल्लेख है। ३४वाँ अध्याय भरा पड़ा है इसी से कि वाद्यों के अक्षर क्या होते हैं, विशेष रूप से अवनद्ध वाद्यों में। ऐसे ही तत वाद्यों के भी थोड़े-बहुत अक्षर बना लेते होंगे, आज तो बना लेते हैं, उन्हीं को लेकर ध्रुपद गायक आलापचारी करते हैं। इसीलिए गान्धर्व के लिए तो ना० शा० ने ही कह दिया कि :

यत् स्यादक्षरसम्बद्धं तत् सर्वं पदसंज्ञितम्।
(द्र० अनु० ३८)

अर्थात् जो कुछ भी अक्षरबद्ध है, उस सबकी पद संज्ञा है। बस अक्षर हो, अर्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भले ही हो न हो। व्याकरण तो कहेगा 'सुप्तिङन्तं पदम्' जब तक 'सुप्' या 'तिङ्' में से कोई प्रत्यय नहीं लगेगा तो पद बनेगा ही नहीं, लेकिन संगीत में वह व्याख्या लागू नहीं है। वहाँ तो कहते हैं कि बस अक्षर हो जाय, उतना काफी है। वैसे अक्षरों को शुष्काक्षर कहकर ना० शा० ने बता दिया है—'झटुं जगतिय वलितक दिगिनिगि तितिझल कुचझल तितिचा'। कहा ये ब्रह्मप्रोक्त पद हैं। ये भी पद हैं, निरर्थक अक्षर हैं, लेकिन एक विशेष सन्निवेश है। चतुर्मात्रिक गणों में ये बने हुए हैं। तो ये भी वहाँ तो ग्राह्य हैं, ये भी पद हैं संगीत के लिए, जिनमें कि कोई अर्थ नहीं है। तो, वर्ण रहे और कोई अर्थ न हो या व्यंजनात्मक वर्ण भी न रहे 'आ ई ऊ' इतना ही रहे। आकार में आलाप हो रहा है, कुछ नहीं, वर्ण है तो केवल 'आ ई ऊ' केवल ऐसा ही कुछ है, जिसमें कि कोई वर्ण का वैचित्र्य नहीं है जरा भी, वैचित्र्य है तो सारा स्वर का है, लय का है। ऐसी स्थिति में व्यंजना ही व्यंजना है, वाचकता तो कहीं है नहीं।

इस प्रसंग में हमारे चिन्तन के सहारे के लिए अभिनवगुप्तपाद ने तीन शब्द हमें दिये हैं, जिन पर मैं थोड़ा कुछ निवेदन करना चाहूँगी। इससे हमें बात समझ में आयेगी। उन्होंने कहा कि शब्द तीन काम कर सकता है—वचन, रंजन और व्यंजन। एक तो कोई बात सीधे-सीधे कह दे, जिसको हम वाचकता कहते हैं, 'आओ, जाओ, लो, दो,' यह वचन हो गया। संगीत में चले आइये, वचन कुछ नहीं है, अच्छा लग रहा है, बस रंजन है। अच्छा लग रहा है। या हम जिस भाषा को नहीं भी जानते हैं, उसमें मान लीजिए कोई काव्य-पाठ करता है, तो उसका जो नादांश है, वह कभी-कभी हमें अच्छा लग सकता है, तो वहाँ भी हमारा रंजन ही हो रहा है, पर वचन से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। वचन क्या हो रहा है उसमें, इसका हमें कुछ पता नहीं है। रंजन फिर भी हो सकता है, जैसे कि संस्कृत का काव्यपाठ अगर अच्छे ढंग से कोई करे, मधुर कण्ठ से और शुद्ध उच्चारण से करे, तो जो आदमी संस्कृत भाषा नहीं जानता, जिसे सर्वथा उसका संस्कार न हो, बिल्कुल विदेशी हो, उसको भी आनन्द आता है। यह तो हम सबका अनुभव है, बहुत आनन्द आता है उन लोगों को भी, एक लय का, एक अक्षरसन्निवेश का। तो वह क्या है, वहाँ रंजन हो रहा है, पर वचन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, वचन को नहीं समझ रहा है वह कि क्या कहा जा रहा है। और फिर व्यंजन। मुझे लगता है कि इस क्रम को थोड़ा-सा अगर उलट दें, तो रंजन और व्यंजन ये दो छोर हैं। जैसे—किसी की आवाज सुनते ही, नाद ही अच्छा लगे किसी भी वचन का, तो यह है कि वह रंजक भी है और बीच में, यह बीच की स्थिति है कि हम उसका अर्थ भी समझें। कभी ऐसी स्थिति हो सकती है कि अर्थ नहीं भी समझें। तो वाच्यार्थ नहीं समझे, लेकिन कुछ अर्थ समझे, कुछ अर्थ तो उसका भी है। यानी यह 'अर्थ' भी बड़ा व्यापक शब्द है। अर्थ का मतलब वाच्यार्थ मात्र थोड़े ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सारा ध्वनि-सिद्धान्त इसी वात को लेकर सिर मार रहा है कि अर्थ केवल वाच्यार्थ ही तो नहीं है। हाँ, एक व्यंजन ऐसा हो सकता है, जोकि वाच्यार्थ से सम्वद्ध है, जो कि काव्य में काम करेगा। संगीत में जो व्यंजन काम करेगा, व्यंजन का जो व्यापार होगा, वह ऐसा होगा, जो रंजन से सीधे व्यंजन में पहुँच जाता है, वीच की स्थिति वचन को विल्कुल ही लाँघ जाता है, उसको लाता ही नहीं, कहीं से कहीं तक। सुनते ही वीणा की ध्वनि जो है पहले तो आकर्षण करेगी आपका, रंजन करेगी, वहुत अच्छी लग रही है, वहुत मधुर लग रही है, फिर उसमें आप लीन होते जाइए, तो हो सकता है कि उसकी कोई व्यंजना भी आपके सामने खुले, लेकिन वह क्या खुलेगी, यह वहुत कुछ आप पर निर्भर है।

वाचक पद का योगदान संगीत में कितना कम है, यह कोई भी सहृदय श्रोता जानता है। उसका योगदान कुछ तो हो सकता है अवश्य, यदि गीत का पद सुन्दर है तो उसका भी योगदान है हमें जो आनन्द मिलेगा उसमें, लेकिन अधिक नहीं है। यदि उसी का योगदान वनता चले तो संगीत दुर्वल हो जाएगा, काव्य प्रवल हो जाएगा। ऐसी भी स्थिति कभी-कभी वनती है संगीत में। आपने देखा होगा कि ठुमरी गायक कभी-कभी बीच में गाना रोककर एक तरह का पाठ जैसा करते हैं, स्वर में ही करते हैं, लेकिन उसमें काव्य प्रधान हो जाता है। मान लीजिए ठुमरी उठाई किसी ने—'मुरलिया अव न वजाओ श्याम', तो गाया थोड़ी देर उसको। अव मुरली-सम्वन्धी कवित्त सवैयों की हिन्दी साहित्य में कोई कमी है? उसको थोड़ी देर रोक दिया 'मुरलिया अव न वजाओ श्याम' को। फिर मुरली पर कोई भी मुक्तक कहने लगे। अव वहुत वाह-वाह होती है। उसमें आनन्द आता है श्रोताओं को, लेकिन वह जो आनन्द आता है, उसमें काव्य प्रधान है, संगीत दुर्वल है। उसमें कोई दोष की वात नहीं है, लेकिन विश्लेषण की वात है। उसमें काव्यानन्द प्रधान हो जाता है। वैसे ही भामह को भी यह चिन्ता हुई कि अगर काव्य में केवल श्रुतिमधुरता प्रधान हो जाय और वक्रोक्ति जैसा कुछ न रहे, अर्थ का सौन्दर्य न रहे, तो वह तो 'केवलं श्रुतिपेशलम्' (द्र० अनु ३ ठ) केवल गेय वनकर रह जाय। यह चिन्ता काव्य-शास्त्रियों को भी होती है कि कहीं ऐसा न हो कि हम कहीं ध्वनियों के सौन्दर्य में ही रह जाएँ, वर्णों की मैत्री और उनके गुम्फ के सौन्दर्य में ही रह जाएँ और अर्थ की वक्रोक्ति को और अर्थ के चमत्कार को भूल जाएँ, तव तो गेय के हम अधिक नजदीक चले जाएँगे, क्योंकि उसमें फिर नाद अधिक प्रभावशाली हो जाएगा। इन दोनों की सीमारेखा वड़ी सूक्ष्म है। कव काव्य में संगीत प्रधान हो जाएगा और कव संगीत में काव्य प्रधान हो जाएगा, यह वड़ी कठिन वात है; प्रविष्ट हो जाता है एक में दूसरा।

किन्तु फिर भी इतनी वात जरूर है कि काव्य में से संगीत तत्त्व को समूल निकाल देना असम्भव है, क्योंकि कुछ न कुछ सुना जाएगा न; जव सुना जाएगा,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाठ होगा तो उसकी जो वर्णसंरचना है, वह अपना असर कुछ न कुछ करेगी और जिस ढंग से पढ़ा जा रहा है, इसका भी असर कुछ न कुछ होगा, जो भी कण्ठ की ध्वनि है उसका। सर्वथा उसको आप बाहर नहीं कर सकते। पर नाद में से आप वर्ण को सर्वथा बाहर कर सकते हैं। करीब-करीब सर्वथा। फिर भी पूरा तो नहीं, क्योंकि आघात है न। जहाँ आघात होगा वहाँ तो व्यजंनात्मक ध्वनि आ ही जाएगी; कम से कम कण्ठ में यह बात जरूर है कि आघात न्यूनतम है, इसलिए कण्ठ से आप बिना कोई व्यजंन लिए भी 'आ' कर सकते हैं। फिर भी स्वर तो आ ही जाता है। मुँह खोलते ही 'आ'—इतना तो निकलेगा ही। इतना-सा वर्ण तो जरूर रहेगा, लेकिन वर्णों की संरचना, इस सबसे पार हो सकते हैं, और वर्ण का न्यूनतम सहारा लेते हुए विशुद्ध नाद को लेकर ही काम करें, यह सम्भावना संगीत में है। न्यूनतम वर्ण तो फिर भी रहेगा, क्योंकि अगर वाद्य होगा, तो आघात करना ही पड़ेगा और उसका सादृश्य किसी भी व्यंजनात्मक ध्वनि से ही बैठेगा। वाद्यों की ध्वनि का कभी 'आ ई ऊ' में सादृश्य किसी ने नहीं बैठाया, क्योंकि वहाँ आघात है और वह व्यंजन से ही स्पष्ट होगा। उसमें स्वर लगेंगे जरूर, यह तो कह ही दिया कि ये व्यंजन है, इनमें कभी 'ई' लगा लो तो कभी 'आ' लगा लो। धिरकिट जैसे कहते हैं तबले वाले। लेकिन व्यंजन जरूर रहेगा, व्यंजन बिना नहीं होगा। गले में यह है कि आप बिना व्यंजन लिए भी घण्टों केवल 'आ—ई—' स्वरों में गा सकते हैं, क्योंकि आघात न्यूनतम है उसमें। यह तो है, लेकिन वर्ण को न्यूनतम कर देना, करीब-करीब सर्वथा उसका सहारा छोड़ देना यह संगीत के लिए तो सम्भव है, किन्तु काव्य के लिए सम्भव नहीं है कि नाद को सर्वथा निकाल कर बाहर फेंक दे। उसका अपना स्थान रहेगा ही, कुछ भी कर लो। यह तो खैर उनके अपने-अपने क्षेत्र की बात है।

मैं यह कह रही थी कि यह जो ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई और उसमें जो रस को केन्द्र में रखकर चिन्तन किया गया और उससे मुक्तक को भी प्रतिष्ठित किया गया और व्याकरण की ध्वनि से सम्बन्ध जोड़ा गया, अनुरणन को सामने लाया गया, इस सबसे हमें रस-सम्बन्धी चिन्तन में कुछ और सफाई, कुछ और परिष्कार की उपलब्धि हुई है कि शब्द जो है, उससे किस-किस प्रकार का अर्थबोध हमें हो सकता है। यह जरूरी नहीं है कि वाच्यार्थ के बोध को ही अर्थबोध समझा जाय। वाच्यार्थ का अर्थ मुख्य रूप से अर्थबोध है, यह ठीक है; तो शब्द जो है, वह वचन तो करता ही है। संगीत में जब पहुँच जाते हैं, तो वह रंजन करता है, काव्य में भी थोड़ा बहुत रंजन कर सकता है, पर अधिक करने लगे तो लोग कहेंगे कि संगीत में पहुँच गये, कुछ-न-कुछ तो करेगा ही वहाँ भी, पर अधिकांश वहाँ रंजन का काम उतना नहीं है, वचन का है। वचन से व्यंजन तक पहुँचना है वहाँ भी। सीधे केवल बात कह देने से काम नहीं चलेगा, इस ढंग से बात कही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाय कि कुछ अनकही बात भी दूसरे को समझ में आये, तो यह व्यंजन वहाँ इसलिए जरूरी माना गया है कि केवल वचन मत करो। महाकवि जो हैं, वे केवल वचन नहीं किया करते, वे तो महाकवि इसीलिए कहलाते हैं कि वे इस प्रकार का वचन करते हैं कि उससे व्यंजन अपने आप होता है। और वे रस को कभी वाच्य नहीं बनाते। इत्यादि। सारी उसमें महाकवियों की जो भी विवेचना हुई वह इसी पर हुई कि वे हमें वचन से व्यंजन तक पहुँचाते हैं बहुत सफल रीति से, बड़ी उत्कृष्ट रीति से और हमें इस बात का पूरा अवकाश देते हैं कि हमारी सहृदयता से हम मुक्तक के पूर्वापर को भी समझें और पूर्वापर को समझ कर जो अनकहा है उसको समझें।

उसी के साथ-साथ संगीत का चिन्तन भी जुड़ा हुआ है, उसमें यह है कि वहाँ वचन यदि है, तो भी कोई बात नहीं, क्योंकि हमारी परम्परा में ऐसा नहीं है कि वाचक पद संगीत में बाधक है। पश्चिम में जो सार्थक पद है, उसको संगीत-बाह्य तत्त्व समझते हैं वे लोग, ऐसा हमारे यहाँ कभी नहीं कहा गया। हमारे यहाँ तो गान्धर्व के घटक बताते हुए *'स्वर-ताल-पदात्मकम्'* कहकर स्वर, ताल और पद (द्र० अनु० ३ ड) तीनों को एक साथ लिया है, लेकिन पद ऐसा है जो सार्थक भी हो सकता है, निरर्थक भी हो सकता है। पद कुछ न कुछ तो रहेगा ही, वर्ण का अंश कुछ न कुछ जरूर रहेगा। यह तो चिन्तन है ही हमारे यहाँ का। और सार्थक पद हो भी तो आनन्दसर्जन का अधिकांश उसके जिम्मे नहीं है, कुछ अंश होगा, लेकिन काव्य जितना नहीं। वहाँ जिस पद का प्रयोग हो रहा है, उस पद की व्यंजना की ओर हमारा ध्यान नहीं है, जितना कि हमारा ध्यान उसके साथ जो स्वर-लय-योजना हो रही है, उसकी व्यंजना की ओर है। पद के साथ-साथ वह चले, जैसे कि ठुमरी में चलता है, तो ठीक है, पद से वहाँ इतनी-सी बात होगी कि थोड़ी-सी ठोस धरती हमें उपलब्ध थी, जहाँ से कि पद की वाचकता समझ कर हम चले, लेकिन उसके बाद तो उस धरती से पैर ऊपर उठ ही जायेंगे हमारे जरूर, उस पर खड़े नहीं रह सकेंगे, क्योंकि वाचकता तो एक बार काम करके समाप्त हो जाएगी। सौ बार गायक कहता है कि 'जोगी मत जा, मत जा' तो 'मत जा' का कोई नया वाच्यार्थ समझ में आने वाला नहीं है, चाहे सौ बार कहिए, चाहे हजार बार कहिए। वाच्यार्थ तो एक ही रहने वाला है। पर फिर यदि उसमें हमें आनन्द आता है, तो उसमें कुछ व्यंजन, कुछ रंजन का अंश है, क्योंकि वह इस ढंग से कहा जा रहा है कि हमें अच्छा लगता है, कुछ इस ढंग से कहा जा रहा है कि मनुहार के अनन्त प्रकार हमें समझ में आ रहे हैं, जो कि भाषा से नहीं आ सकते, और जिनकी व्याख्या भी भाषा में नहीं हो सकती। आप कहें कि हर बार उसकी व्याख्या भाषा में की जाय, तो बहुत मुश्किल है। तब तो बात बिगड़ जाएगी, नहीं कर सकते और करने की जरूरत भी नहीं है, करने की कोशिश भी अनावश्यक है, अनुचित भी हो सकती है, किसी स्थिति में। शब्द हमें तीन धरतियों पर खड़ा कर सकता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। वाच्य-वाचक सम्बन्ध जहाँ नियत है, वहाँ खड़ा करता है। उससे उड़ान की क्षमता देता है कि हम उससे व्यंजना में पहुँच जाएँ। उसका व्यंग्यार्थ क्या है, इसमें पहुँच जाएँ। यह भी कर सकता है कि आरम्भ से ही हमें एक आनन्दात्मकता, एक प्रकार के आकर्षण में रखे यानी रंजन करे हमारा और उसमें से हम जहाँ तक पहुँच सकें व्यंजना में पहुँच जाएँ। शायद न भी पहुँचें तो कोई बात नहीं है, रंजन ही होता रहे, तो भी कोई बुरी बात नहीं है। लेकिन वह व्यंजना कितनी होगी, कैसी होगी, कितना उसका विस्तार होगा, इसकी व्याख्या संगीत के संदर्भ में काव्य के समकक्ष नहीं हो सकती। इतना अवश्य है।

मेरे कहने का आशय इतना है कि ध्वनि के प्रसंग में ध्वनिकार ने वीणा के शब्द का जो उदाहरण दिया है और तीन-चार बार दिया है अपनी बात पुष्ट करने को, यह कह कर कि यदि बिना वाचकता के भी व्यंजना काम कर सकती है, तो भला वाचकता के सहारे से क्यों न करे, यह तो उनका कैमुत्यन्याय है। उन्होंने इस प्रकार अपना काम किया। हमें, संगीत के विद्यार्थियों को, उसमें से यह समझ में आता है कि इन्होंने संगीत की जो व्यंजना की रीति है, उसको समझने में कुछ हमें सहारा दिया है, हमें कुछ आश्वासन दिया है। उसको समझने में हमें बहुत अच्छा सम्बल दिया है, जिससे कि हम इन तीनों स्तरों पर शब्द के प्रयोग को समझ सकें। काव्य में क्या होता है, संगीत में क्या होता है, दोनों के मिले-जुले रूप में क्या होता है, ये सारे के सारे स्तर, इनके अलग-अलग मात्राभेद, यह सब कुछ समझने की एक सरणी, एक मार्ग हमें इस चिन्तन ने अवश्य दिया है। इसलिए मैं इसको पल्लवन के रूप में रखना चाहती थी।

कल श्रद्धेय विद्यानिवास जी मिश्र ने एक संकेत किया था कि रसों के प्रति कैसे-कैसे भिन्न-भिन्न दृष्टि रहती रही है। मैं सोचती हूँ कि उसका थोड़ा-सा विवरण मुझे भी देना चाहिए। केवल नवरस की बात हमारे यहाँ नहीं होती रही है। एक रस भी कहा लोगों ने, दस भी बनाये, बारह भी बनाये। कैसे बनाये, एकमेव भक्ति रस है, उसी के बारह भेद बना दिये। ये सारे के सारे अनेक प्रकार के चिन्तन रस को लेकर हुए हैं; ऐसा नहीं कि केवल आठ और नव रसों में चिन्तन सिमटा रहा है। तरह-तरह की बात हुई है इस पर, यहाँ तक कि सत्रहवीं शताब्दी तक नया-नया चिन्तन रस को लेकर होता रहा है, रसगंगाधर के समय तक। उसके बाद तो शायद पतझड़ का समय धीरे-धीरे आने लगा, जिसकी चर्चा मैं कल करूँगी। मैं सोचती हूँ कि ये जो कुछ बातें रह गयी हैं, रस की संख्याओं पर या रसों के नाम पर या पूरी समूची रस के प्रति दृष्टि पर, इन्हें कल संक्षेप में ले लूँगी। जो पारम्परिक काव्यशास्त्र है, साहित्यशास्त्र है, उसकी दृष्टि तो एक यह रही कि देवविषयक यह जो भक्ति है या वात्सल्य है, उसको देवविषयक रति या पुत्रविषयक रति मानकर छोड़ दो, रस तक इसको मत ले जाओ, मत कहो। और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक दृष्टि है कि वही एकमात्र रस है, भक्ति ही एकमात्र रस है। बहुत कुछ चिन्तन है इसमें या एक ही रस है श्रृंगार, जैसे कि भोज के श्रृंगारप्रकाश में इसका प्रतिपादन बहुत-बहुत विशद रूप से है। तो ये अनेक प्रकार के चिन्तन रस को लेकर हुए हैं, जिनका मैं सोचती हूँ कि कल मैं बहुत संक्षेप में थोड़ा-सा विवरण दूँगी और फिर यह जो पतझड़ और वसन्त की बात है, उसकी थोड़ी-सी चर्चा कल अवश्य करूँगी। पहले दिन तो मैंने इंगित मात्र किया था, उसकी थोड़ी चर्चा करने पर कल यह हमारा चार दिवस का एक प्रकार का सत्र पूरा होगा।

अनुबन्ध

(क) ध्वनि-सिद्धान्त का मूल व्याकरण में

प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरण-मूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।
ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।

(ध्वन्यालोक वृत्ति १. पृ० १३८)

श्रूयमाणेष्विति। श्रोत्रशष्कुलीं सन्तानेनागता अन्त्याः शब्दाः श्रूयन्त इति-प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तम्। तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं तावदस्ति, ते च ध्वनिशब्देनोक्ताः। यथाह भगवान् भर्तृहरि :

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः॥

(लोचन, वही, पृ० १३८-३९)

वैयाकरण प्रथम विद्वान् हैं, क्योंकि सब विद्याओं का मूल व्याकरण में है। वे (वैयाकरण) श्रूयमाण (सुने जाते हुए) वर्णों को 'ध्वनि' कहते हैं।

श्रूयमाण (सुने जाते हुए) वर्णों का अर्थ है कि कर्ण-शष्कुली (छिद्र) तक सन्तानक्रम से (वीची—तरंग की भांति) आकर अन्तिम शब्द सुने जाते हैं। इस प्रक्रिया में शब्दज (शब्द से उत्पन्न) शब्द श्रूयमाण होते हैं, ऐसा कहा है। उनका घण्टानुरणन के साथ सादृश्य है, उन्हें ध्वनि शब्द से कहा गया है। जैसा कि भगवान् भर्तृहरि ने कहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'करणों अर्थात् जिह्वादि स्थानों के साथ संयोग और वियोग के कारण जो उत्पन्न होता है, वह 'स्फोट' है और (श्रूयमाण) शब्दों से उत्पन्न शब्दों को अन्यों ने ध्वनि कहा है।'

(ख) अर्थ का अनुरणन

एवं घण्टानिर्ह्लादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यंग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः। तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य-स्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः।

(लोचन वही. पृ० १३९)

इस प्रकार घंटा के निर्ह्लाद (शब्द) के स्थानीय अर्थात् समान अनुरणनरूपोप-लक्षित व्यंग्य अर्थ को भी 'ध्वनि' ऐसा कहा गया है या कहा जाता है। तथा श्रूयमाण जो वर्ण नाद शब्द से कहे जाते हैं जो कि अन्तिम बुद्धि से नितरां ग्राह्य स्फोट को व्यंजित करने वाले हैं, वे 'ध्वनि' शब्द से कहे गए हैं।

(ग) काव्यार्थ समझने के लिए सहृदयता की अनिवार्यता

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥

सोऽर्थो यस्मात् केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते। यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्तद्वाच्यवाचकरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात्। अथ च वाच्य-वाचक-लक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षण-मिवाप्रगीतानां गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः।

(ध्वन्यालोक १.७ और उस पर वृत्ति, पृ० ९५)

स्वराः षड्जादयः सप्त। श्रुतिर्नाम शब्दस्य वैलक्षण्यमात्रकारि यद्रूपान्तरं तत्परिमाणा स्वर-तदन्तरालोभयभेदकल्पिता द्वाविंशतिविधा। आदिशब्देन जात्यंशकग्रामराग-भाषाविभाषान्तर-भाषादेशीमार्गा गृह्यन्ते। प्रकृष्टं गीतं गानं येषां ते प्रगीताः···।

(लोचन, वही, पृ० ९५)

वह (व्यंग्यार्थ या प्रतीयमान अर्थ) शब्द और अर्थ के शासनों के ज्ञान मात्र से नहीं जाना जाता है, बल्कि वह तो केवल काव्यार्थ के तत्त्वज्ञ लोगों द्वारा ही जाना जाता है।

वह (व्यंग्य) अर्थ क्योंकि केवल काव्यार्थतत्त्वज्ञों द्वारा ही जाना जाता है, (इसलिए यह तर्क बनता है कि) यदि वह (व्यंग्य) अर्थ वाच्यरूप ही हो, तो शब्द-अर्थ (वाचक-वाच्य) के ज्ञानमात्र से ही उसकी प्रतीति हो जानी चाहिए। और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी, जिन्होंने वाच्य-वाचक (अर्थ-शब्द) के लक्षण-मात्र में श्रम किया है और जो काव्यतत्त्वार्थ की भावना से विमुख हैं, उनके लिए वह (अर्थ) उसी प्रकार अगोचर है, जैसे कि गान्धर्व-लक्षण के ज्ञाताओं किन्तु अप्रगीतों (जिन्होंने गाया नहीं है) के लिए स्वर-श्रुति आदि का लक्षण (अगोचर) होता है।

स्वर षड्जादि सात हैं। श्रुति का परिमाण है वह रूपान्तर जो शब्द का वैलक्षण्य बनाता है अर्थात् एक शब्द को दूसरे से भिन्न बनाता है। उसके दो भेद हैं, एक तो स्वर (जिस श्रुति पर स्वर स्थित है) और दूसरा स्वर का अन्तराल (जिसके द्वारा नापा जाता है)। (इस प्रकार की श्रुति) बाईस प्रकार की हैं। आदि शब्द से जाति, अंश, ग्रामराग, भाषा, विभाषा, अन्तर-भाषा, देशी-मार्ग का ग्रहण होता है। जिनका प्रकृष्ट गीत या गान है, वे प्रगीत हैं।

(घ) बृहद्देशी में स्वर शब्द की व्युत्पत्ति

राजृ दीप्ताविति धातोः स्वशब्दपूर्वकस्य च।
स्वयं यो राजते यस्मात् तस्मादेष स्वरः स्मृतः॥

(बृहद्देशी ६३ गद्य, ६४ कख)

'राजृ' धातु का अर्थ है दीप्ति या चमक, उससे पूर्व 'स्व' शब्द लगाने से (यह अर्थ बनता है कि) जो स्वयं राजित होता है, उसे इसलिए स्वर कहा जाता है।

(ङ) स्वर के लक्षण में अनुरणनात्मकता का ग्रहण

वयं तु श्रुतिस्थानाभिघातप्रभव-शब्दप्रभावितोऽनुरणनात्मा स्निग्धमधुरः शब्द एव स्वर इति वक्ष्यामः।

(ना० शा० २८, अभिनवभारती, पृ० ११)

श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रंजयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते॥

(संगीत रत्नाकर, १. ३)

हम तो श्रुति-स्थान पर आघात से उत्पन्न शब्द से प्रभावित अनुरणनात्मक, स्निग्ध-मधुर शब्द ही स्वर है, ऐसा कहेंगे।

जो श्रुति (आघातात्मक ध्वनि) के अनन्तर उत्पन्न होता है, स्निग्ध, अनुरणनात्मक है, (जो) स्वतः श्रोता के चित्त का रंजन करता है, वह स्वर कहलाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(च) तन्त्रालोक में 'अनुरणन' पर विचार

षड्जं करोमि मधुरं, वादयामि, ब्रुवे वचः ।। २४६ गघ ।।
तेन जिगासा-विवादयिवा-विवक्षात्मकानुसन्धानत्रयरूपमेतत्-सूक्ष्मं भेदत्रयमिति तात्पर्यार्थः ।। २४६ ।।
किं चात्र प्रमाणमित्याशंक्याह-
पृथगेवानुसन्धानत्रयं संवेद्यते किल । २४७ क ख ।।
संवेद्यते इति स्वानुभवसिद्धमेतदित्यर्थः ।।

(तन्त्रालोक, द्वितीयाह्निक, उस पर जयरथ की टीका)

मधुर षड्ज को कर रहा (गा रहा) हूँ, (अवनद्ध वाद्य को) वजा रहा हूँ और वचन वोल रहा हूँ, इस तीन प्रकार के 'अनुसन्धान' का पृथक् ही संवेदन होता है अर्थात् यह स्वानुभवसिद्ध है।

इस प्रकार गाने की इच्छा, वजाने की इच्छा और वोलने की इच्छा, यह तीन प्रकार का अनुसन्धान-रूपी सूक्ष्म भेदत्रय है।

(गाना—जिसमें तत, सुषिर वाद्य अन्वित हैं, वजाना, जो कि यहाँ अवनद्ध वाद्यों से संवद्ध है और वोलना इन तीनों में क्रमशः अनुरणन अधिक, मध्यम और न्यून है।)

(छ) भाव और रस वाच्य नहीं है

तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद् विभिन्न एव। तथा हि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्। विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसंगः।
न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत्, तत्रापि विशिष्ट-विभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः।
स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृता।

(ध्वन्यालोक १ वृत्ति, पृ० ८१-८२)

(ध्वनि का) तृतीय भेद जो रसादिलक्षण है, वह वाच्यार्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है, वह साक्षात् (सीधे) शब्द-व्यापार का विषय है, इसलिए वाच्य से भिन्न ही है। उसका वाच्यत्व या तो स्वशब्द (शृंगार-करुणादि) के द्वारा निवेदित होने से वन सकता है और या विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा (वन सकता है)। यदि पहला पक्ष (स्वशब्दनिवेदितत्व) मानें तो जहाँ स्वशब्द द्वारा निवेदन नहीं है, वहाँ रसादि की प्रतीति नहीं होगी। उन (रसों) का स्वशब्द-निवेदितत्व सर्वत्र नहीं होता। जहाँ वह होता भी है, वहाँ भी विशिष्ट विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही उन (रसों) की प्रतीति होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वशब्द के द्वारा उस प्रतीति का केवल अनुवाद होता है, उस (स्वशब्द) से वह (प्रतीति) बनती नहीं।

(ज) मुक्तक में प्रबन्ध की भाँति रसवत्ता

मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः श्रृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।

(ध्वन्यालोक 3, वृत्ति, पृ० ३५५)

मुक्तकों में प्रबन्धों की भाँति 'रसबन्ध' के अभिनिवेशी कवि दिखाई देते हैं। जैसे कि अमरुक कवि के मुक्तक श्रृंगार रस की वर्षा करने वाले एवं प्रबन्ध सदृश (बनते हुए) प्रसिद्ध ही हैं।

(झ) मुक्तक में पूर्वापरनिरपेक्षता

यदि वा प्रबन्धेऽपि मुक्तकस्यास्तु सद्भावः, पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्। यथा—'त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्' इत्यादिश्लोकः।

प्रबन्ध में भी मुक्तक का अस्तित्व हो सकता है। पूर्वापर-निरपेक्ष रह कर भी जिसके द्वारा रसचर्वणा की जाती है, वही मुक्तक है। जैसे—'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां' इत्यादि श्लोक (मेघदूत खण्डकाव्य का अंगभूत होने पर भी मुक्तक की भाँति आस्वाद्य है)।

(ञ) ध्वनि के प्रतिपादन में संगीत के दृष्टान्त

(१) ननु शब्द एव प्रकरणाद्यवच्छिन्नो वाच्यव्यंग्ययोः सममेव प्रतीतिमुपजनयतीति किं तत्र क्रमकल्पनया। न हि शब्दस्य वाच्यप्रतीतिपरामर्श एव व्यंजकत्वे निबन्धनम्। तथा हि गीतादिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति। न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः।

अत्र ब्रूमः। प्रकरणाद्यवच्छेदेन व्यंजकत्वं शब्दानामित्यनुमतमेवैतदस्माकम्। किं तु तद्व्यंजकत्वं तेषां कदाचित् स्वरूपविशेषनिबन्धनं कदाचिद् वाचकशक्तिनिबन्धनम्। तत्र येषां वाचकशक्तिनिबन्धनं तेषां यदि वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव स्वरूपप्रतीत्यां निष्पन्नं तद्भवेन्न तर्हि वाचक-शक्तिदनिबन्धनम्। अथ तन्निबन्धनं तन्नियमेनैव वाच्यवाचक-भावप्रतीत्युत्तरकालत्वं व्यंग्यप्रतीतेः प्राप्तमेव।

(ध्वन्यालोक 3, वृत्ति पृ० ४४६-४७)

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थप्रतीतिमन्तरेण रसप्रतीत्युदयस्य पदविरहितस्वरालापगीतादौ शब्दमात्रोपयोगकृतस्य दर्शनात्। ततश्चैकयैव सामग्र्या सहैव वाच्यं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यंग्याभिमतं च रसादि भातीति वचनव्यंजन-व्यापारद्वयेन न किंचिदिति तदा—त्विति। यत्रापि गीतशब्दानामर्थोऽस्ति तत्रापि तत्प्रतीतिरनुपयोगिनी ग्रामरागानुसारेणापहस्तित-वाच्यानुसारतया रसोदयदर्शनात्। न चापि सा सर्वत्र भवन्ती दृश्यते, तदेतदाह न चेति। तेषामिति गीतादिशब्दानाम्। आदिशब्देन वाद्यविलपितादयो निर्दिष्टाः।

(लोचन, वही)

(पूर्वपक्ष) शब्द ही प्रकरणादि के द्वारा अवच्छिन्न होकर वाच्य और व्यंग्य (अर्थों) की एक साथ प्रतीति उत्पन्न करता है, वहाँ क्रम की कल्पना का क्या (औचित्य) है? शब्द के वाच्य (अर्थ) की प्रतीति का परामर्श ही (उसके) व्यंजकत्व में (अनिवार्य) कारण नहीं है। जैसे कि, गीतादि के शब्दों से भी रस की अभिव्यक्ति है। और ऐसा भी नहीं है कि बीच में उन (शब्दों) के वाच्य (अर्थ) का परामर्श होता हो। (उत्तरपक्ष) यहाँ भी (हम) कहते हैं—प्रकरण आदि के अवच्छेद (विशिष्टता के योग) से शब्दों का व्यञ्जकत्व है, यह हमें स्वीकार ही है। किन्तु वह व्यंजकत्व कभी उन (शब्दों) के स्वरूप-विशेष के कारण और कभी वाचक-शक्ति के कारण है। उनमें जिन शब्दों का (व्यंजकत्व) वाचक शक्ति के कारण है, उनके वाच्य (अर्थ) की प्रतीति के विना ही स्वरूप की प्रतीति से वह (व्यंजकत्व) निष्पन्न हो जाए तो वह वाचक शक्ति के कारण नहीं (माना जा सकता) है। और यदि वाचक शक्ति के कारण है तो नियमतः ही व्यंग्य की प्रतीति का वाच्यवाचकभाव की प्रतीति के उत्तरकाल (बाद) में होना प्राप्त ही है।

(लोचन)—अन्वय-व्यतिरेक से अर्थ-प्रतीति के विना, पदविरहित स्वरालाप वाले गीतादि में शब्दमात्र के उपयोग से संपन्न (हुआ) रसप्रतीति का उदय दिखाई देने के कारण (वाच्य और व्यंग्य अर्थ की प्रतीति में क्रम की कल्पना नहीं की जा सकती)। तब एक ही सामग्री से एक साथ वाच्य और व्यंग्य के रूप में अभिमत रसादि की प्रतीति होती है। इसलिए वचन और व्यंजन ये दो व्यापार मानने से कुछ नहीं होता। (इसलिए शंका उठाई है या पूर्वपक्ष बनाया है)। जहाँ गीतशब्दों का अर्थ है, वहां भी ग्रामराग (विशेष) के अनुसार, वाच्य का अनुसरण छोड़ देने से रसोदय होता है, ऐसा देखा जाता है। ऐसा भी नहीं कि वह (वाच्य अर्थ की प्रतीति) सर्वत्र देखी जाती है। इसलिए यह कहते हैं कि उनका (गीतादि शब्दों का); 'आदि' शब्द से वाद्य शब्द, विलपित शब्द आदि का निर्देश हुआ है।

(२) येषामपि स्वरूपविशेषप्रतीतिनिमित्तं व्यंजकत्वं यथा गीतादिशब्दानां तेषामपि स्वरूपप्रतीतेर्व्यंग्य प्रतीतेश्च नियमभावी क्रमः।

(वही-३, वृत्ति पृ ४१६)

जिनका स्वरूपविशेष की प्रतीति से जनित व्यंजकत्व है, जैसे कि गीतादि शब्दों का, उनकी भी स्वरूप-प्रतीति और व्यंग्यप्रतीति का नियमतः क्रम है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) न हि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः। अवाचकस्यापि गीतशब्दादे रसादिलक्षणार्थावगम-दर्शनात्। अशब्दस्यापि चेष्टादेरर्थविशेषप्रकाशनप्रसिद्धेः।

(वही-३, वृत्ति. पृ० ४५८)

ऐसा नहीं (कहा जा सकता कि) जो अभिधान शक्ति है, वही अवगमनशक्ति है, क्योंकि अवाचक गीतशब्दादि से भी रसादिरूप अर्थ का अवगम देखा जाता है और अशब्द चेष्टा आदि से भी अर्थविशेष के प्रकाशन की प्रसिद्धि है।

(४) तथा हि गीतध्वनीनामपि व्यंजकत्वमस्ति रसादिविषयम्। न च तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथंचिल्लक्ष्यते।

(वही-३, वृत्ति, पृ० ४६८-६९)

गीतध्वनियों का भी रसादिविषयक व्यञ्जकत्व है। किन्तु उनका वाचकत्व या लक्षणा किसी प्रकार लक्षित नहीं होती।

(इन चारों उद्धरणों में 'गीत शब्द' अथवा 'गीत ध्वनि'—इन शब्दों का अर्थ मुख्य रूप से सार्थकपदरहित गान अथवा तत, सुषिर स्वरवाद्यों की ध्वनि से है। 'गीत' शब्द में स्वर-वाद्य भी अन्वित हैं, केवल गाना नहीं।)

(ट) संगीत में अक्षरमात्र का पदत्व

यत् स्यादक्षरसम्बद्धं तत्सर्वं पदसंज्ञितम्।

(ना० शा० ३२.२८ कख)

अक्षराणि गान्धर्वे पदानीति यावत्।

(अभिनवभारती, वही, पृ०, ३०२)

जो कुछ अक्षर-सम्बद्ध है, वह सब पद-संज्ञा से कहा जाता है।

गान्धर्व में अक्षर (ही) पद है, (सार्थकता की शर्त यहाँ नहीं है)।

(ठ) केवल श्रुतिमधुर काव्य की संगीत से समानता

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥

(काव्यालंकार १३४)

अर्थगांभीर्य और वक्रोक्ति से रहित, स्पष्ट, सरल और कोमल (काव्य) (वास्तविक काव्य से) भिन्न, संगीत के समान, केवल श्रुतिमधुर होता है।

(ड) गान्धर्व के घटक स्वर, ताल और पद

गान्धर्वं त्रिविधं विद्यात् स्वरतालपदात्मकम्।

(ना० शा० २८ ११)

गान्धर्व तीन का समुच्चय है यानी स्वर-ताल-पदात्मक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४

रस-सिद्धान्त की पतझड़, अनास्था के आधुनिक स्वर और वसंत की पदचाप

कल मैंने निवेदन किया था कि पतझड़ की बात आज के लिए रखी गयी है, उसकी बात मैं करूँगी, किन्तु उससे पहले बहुत संक्षेप में थोड़ा-सा रसों की संख्या को लेकर जो भिन्न प्रकार का चिन्तन हमारे यहाँ होता रहा है, उसका इंगित भर करूँगी, क्योंकि सब लोग जानते हैं और पिष्ट-पेषण करने से कोई लाभ नहीं है।

रसों की संख्या को लेकर विवाद ना० शा० में ही शुरू हुआ, ना० शा० के पाठ को लेकर ही, क्योंकि *'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः'* (द्र० अनु० ४ क) उसमें आरम्भ में ही कहा है। साथ ही, किसी-किसी संस्करण में शान्त रस का प्रतिपादन भी है। किन्तु फिर जहाँ-जहाँ विनियोग दिया है, जिस विनियोग की चर्चा मैंने दूसरे व्याख्यान में की थी, चाहे वह आंगिक अभिनय का हो, चाहे वाचिक अभिनय का हो, जहाँ-जहाँ विनियोग है, वहाँ इन आठों रसों के ही नाम आये हैं, विनियोग में कहीं भी शान्त रस का नाम कभी नहीं आया। किन्तु अभिनवगुप्तपाद ने बड़े अभिनिवेश के साथ, बड़े संरम्भ के साथ शान्त रस को प्रतिष्ठित किया और उसके बाद नवरस की संख्या एक प्रकार से सुनिश्चित-सी हो गयी। इसमें एक बड़ा मनोरंजक तथ्य है। दक्षिण का जो एक शासक था, इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय, उसने नवरस को 'नौरस' कहा (उसका उच्चार नौरस हो जाता है)। नवरस के प्रति उसका इतना अभिनिवेश हुआ कि उसने अपने ध्रुपदसंग्रह (उसने कुछ ध्रुपद के पद लिखे थे, जिनका उसी के जीवनकाल में संग्रह किया गया) को 'किताबे-नौरस' नाम दिया। फिर अपने मुख्य हाथी का नाम भी 'नौरस' रखा। अपने महल का नाम भी 'नौरस' रखा, खजाने का नाम भी नौरस, और बहुत से पदार्थों, कम से कम १५-२० का नाम नौरस ही रखा। इससे ऐसा लगता है कि नवरस की संख्या सुनिश्चित प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई थी, या यह संख्या रस के साथ एक प्रकार से समरस हो गयी थी। नवरस को लेकर यह एक बड़ा मनोरंजक तथ्य है कि इब्राहीम आदिलशाह ने अनेकानेक नामकरणों में इसका प्रयोग किया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जो कुछ भी उत्कृष्ट था, उसका 'नौरस' नाम रखा। हाथी से लेकर महल तक या खजाने तक, और भी, जो सबसे अच्छा रत्न उसके पास था, उसके लिए भी, सब चीजों के लिए।

फिर भी ऐसा नहीं है कि यह नवरस की संख्या बिल्कुल अखण्ड रूप से हमेशा मान्य रही हो। नवरस से भिन्न विचार तीन तरह से हुआ। एक तो यह कि एक ही रस में सभी कुछ समाहित हो सकता है। जैसा कि भोज का विचार था (शृंगारप्रकाश में) कि एक-मात्र रस शृंगार है, और सब उसमें समाहित हो सकता है और सब कुछ उसमें समा सकता है, इस प्रकार का चिन्तन रखा गया। दूसरी ओर भवभूति का प्रसिद्ध वाक्य हम लोग जानते ही हैं:

एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्···

(द्र० अनु० ४ ख)

एक ही रस करुण है, जो कि निमित्तभेद से पानी के बुद्बुद और तरंग की भाँति भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होता है, परन्तु वास्तव में रस एक करुण ही है, यह भवभूति ने कह दिया। यानी रस एक ही है वास्तव में। किसी-किसी ने यह कह दिया कि क्योंकि सब रसों में अद्भुत अनुस्यूत है, इसलिए अद्भुत ही सब रसों में व्यापक है और अद्भुत से ही सारा चमत्कार है। इसलिए अद्भुत को सबका समाहार करने वाला मान लिया जाय। इस चिन्तन का कोई बहुत व्यापक रूप तो नहीं मिलता, एकाध श्लोक ही मिलता है, किन्तु शृंगार को एकमात्र रस के रूप में स्थापित करने में भोजराज का अद्वितीय स्थान है, यह सभी विद्वान् जानते हैं, मैं अधिक कुछ नहीं कहूँगी।

इसके बाद जो दूसरा, नवरस से भिन्न चिन्तन हुआ है, वह यह कि नौ में सब कुछ समा नहीं पाता, कुछ और जोड़ना चाहिए। किसी ने वात्सल्य जोड़ा, तो किसी ने प्रेम या प्रेयान् जोड़ा, जिसको कि औरों ने सख्य नाम दिया है। ऐसा भी किया किसी-किसी ने। यह भी हुआ। और तीसरी जो नवरस से भिन्न धारा चली, वह थी उन आचार्यों की, जिन्होंने कि भक्तिरस को ही एकमात्र प्रधान रस माना और उसी में ये जो नवरस थे, उनको भी समाहित किया और उसके अतिरिक्त भी कुछ नये रस जोड़े। इनमें श्री रूप गोस्वामी का नाम सर्वप्रथम लिया जाना चाहिए, क्योंकि उन्होंने बड़े व्यवस्थित रूप से एक नये रस शास्त्र, भक्तिरस शास्त्र की रचना की, जिसमें कि ये जो नौ परम्परागत रस थे, इनमें से दो को तो मुख्य भक्तिरसों में ले लिया, और तीन रस जोड़कर पाँच मुख्य भक्तिरस बनाए। शुरू किया शान्त से, वह नौ में है, ठीक है। और उनमें एक तरतमभाव भी उन्होंने देखा, एक प्रकार का सोपानक्रम भी देखा। सबसे पहले शान्त है, फिर दास्य, फिर सख्य और फिर वात्सल्य और तब शृंगार। ये पाँच उन्होंने मुख्य भक्तिरस रखे, जिनमें कि दो तो परम्परागत रस हैं और दास्य, सख्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और वात्सल्य ये तीन जोड़े गये हैं। इन पाँच को मुख्य भक्तिरस उन्होंने इसलिए कहा कि ये ऐसे हैं, जिनसे एक नियत और सतत, सातत्य का सम्बन्ध भक्त का भगवान् के साथ स्थापित होता है, जिनमें सातत्य का भाव है। जो दास है, वह अनादिकाल से अनन्तकाल तक अपने को दास समझता है, जो सखा है, वह अपने को सखा समझता है, वात्सल्य भाव है जिनका, वे बालक के रूप में भगवान् को नित्य देखते हैं। शृंगार में भी सातत्य है, तो शेष जो सात बचे परम्परागत नौ में से, उनका ऐसा सोचना है कि उनमें सातत्य का भाव नहीं होता। यानी अनन्त-काल तक कोई रौद्र रस के रूप में ही भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखे या कोई बीभत्स के रूप में सम्बन्ध बनाये रखे, यह उतना सम्भव नहीं है, इसलिए उनको गौण भक्ति रस कह दिया। तो पाँच में से दो शान्त और शृंगार ये नवरस में से मुख्य पाँच भक्तिरसों में ले लिए, एक बिल्कुल प्रथम सोपान, दूसरा अन्तिम सोपान, शेष जो सात बचे, उनको गौण भक्तिरस कह दिया, क्योंकि पहली बात तो यह है कि इनमें से किसी-किसी में प्रेम के साथ अनुशीलन नहीं है, कृष्ण का। 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्' होना चाहिए न, इनमें आनुकूल्य नहीं है। रौद्र हैं, तो उसमें आनुकूल्य नहीं है, भय है तो आनुकूल्य नहीं है, '*भयात्कंसः*'जो कहते हैं। तो उसमें क्योंकि आनुकूल्य के साथ भगवत् तत्त्व का अनुशीलन नहीं होता है तो वह सब गौण है। मुख्य उन्हीं को कहेंगे, जिनमें एक प्रेमात्मक सम्बन्ध है और सातत्य है, आनुकूल्य है। तो इस प्रकार का एक बहुत संपुष्ट चिन्तन हुआ। मधुसूदन सरस्वीपाद ने भी अपने 'भक्तिरसायन' में भक्तिरस का प्रतिपादन किया, किन्तु इस तरह की व्यवस्था उन्होंने नहीं बनाई है, जैसी कि श्री रूप गोस्वामी ने बनाई है, और फिर शृंगार रस को विशेष प्राधान्य देने के कारण उसको लेकर उन्होंने एक अलग ग्रन्थ रचा उज्ज्वलनीलमणि जिसमें कि भोज का भी काफी प्रभाव दिखाई देता है कई बातों में। अब इस पर अधिक कुछ नहीं कहूँगी। लेकिन एक विभिन्न धारा भी चिन्तन की चली अवश्य, चलती रही और नवरस अपनी जगह पर रहे, यहाँ तक हुआ कि नौ की संख्या बताने के लिए (जैसे हमारे यहाँ सांकेतिक शब्द होते हैं, संख्याओं के लिए) रस शब्द का प्रयोग बहुत बार होता है। इतना हो गया, वह संख्या समरस हो गई रस शब्द के साथ। केवल इतना ही रसों की संख्या के बारे में कहूँगी, अधिक समय उसके लिए नहीं है।

अब पतझड़ की बात। इस युग में जो चिन्तन हुआ या हो रहा है, उसमें ऐसा लगता है कि रस को लेकर शायद दो प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ उठती होंगी लोगों के मन में। यह मैं जितना कुछ सुनती रहती हूँ या जो कुछ हवा में से स्पन्दन मिलते रहते हैं, केवल उसी के आधार पर कह रही हूँ, मेरे पास कोई इसका लिखित प्रमाण नहीं है। यदि भूल भी हो, तो मैं उसे स्वीकार करूँगी। रस की बात सोचने में या करने में विप्रतिपत्ति जो उठ सकती है, आज जो प्रचलित चिन्तनधारा है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसमें मुझे लगता है दो प्रकार सम्भव हैं, दो ही प्रकार शायद विशिष्ट होंगे। एक तो यह कि जैसे यह कहा गया कि धर्म जो है, वह ऐसी अफीम है कि आदमी अपने सारे समाज की शोषण-व्यवस्था को चुप-चाप वरदाश्त करता रहे और उस अफीम के नशे में पड़ा रहे। जैसे यह धर्म का काम है, ऐसा कहा गया, वैसे ही, लगता है कि उसी के समानान्तर यह भी शायद सोचा जाता है कि यह रस की सारी वात, (क्योंकि रस के साथ आनन्द की वात जुड़ी हुई है) एक प्रकार से जीवन के सत्य को नकारना है। समाज में इतना शोषण है, इतना उत्पीड़न है, इतना दुःख है, और उस सवसे विमुख होकर हम एक ऐसे स्तर की वात करते हैं, जिसमें कि आनन्द का भोग है। एक प्रकार से यह एक ऐसा भोगवाद है, जोकि मनुष्य को समाज-विमुख या मनुष्य-विमुख वनायेगा। एक प्रकार से अपने में केन्द्रित होकर और अपने आनन्द के लिए सव कलाओं को यों समझना कि इनका काम यही है कि हमें आनन्द दें और वाकी सारा जितना जीवन में दुःख भरा हुआ है, इससे मुँह मोड़ लेना, यह भी कोई वात हुई? यह कौन-सी वात है? रस-विरोधी चिन्तन में दूसरी वात यह है कि कला का तो यह काम होना चाहिए कि मनुष्य को उद्वेलित कर दे, उद्विग्न कर दे, वेचैन वना दे। वेचैनी जरूरी है, न कि चैन। यह रस की वात तो चैन की वात है। आज कहाँ जीवन में चैन है, यानी चैन तो नहीं ही है, लेकिन चैन अपेक्षित भी नहीं है। चैन नहीं है, लेकिन चैन चाहिए हो तो एक दूसरी वात होती, तव तो रस जरूर चाहिए, अगर यह मान लिया जाय कि चैन नहीं है और चैन चाहिए। लेकिन यह माना जा सकता है कि चैन चाहना कोई अच्छी वात नहीं है। यह भी कोई वात हुई? इतना चारों ओर दुःख है, इतना अभाव है, इतना शोषण है, इतना उत्पीड़न है, इतना दारिद्र्य है, यह सव कुछ है इसमें कहाँ कौन रस की वात कर सकता है? जिसको जीवन में कोई अभाव न हो, जिसको सव कुछ प्राप्त हो, वह करे तो करे, यह सामान्य मनुष्य के लिए नहीं है और यह जीवन-विमुखता है एक तरह की, पराङ्मुखता है।

साहित्य और चित्र में विप्रतिपत्ति की यह वात जैसी चली है, संगीत में उतनी नहीं आ पाई है। यह मैं यहाँ थोड़ा-सा स्पष्ट कर दूँ। चित्र और साहित्य में जिसको हम आधुनिक कह सकते हैं, वह चिन्तन अपना प्रभाव दिखा सका है, भारत की वात मैं रखती हूँ, और जगह की वात तो नहीं कर रही हूँ। हमारे देश में यह चिन्तन संगीत को उतना प्रभावित नहीं कर सका है, कम से कम उस संगीत को, जो कि परम्परा-प्राप्त है। फिल्म के संगीत की वात नहीं कर रही हूँ। जो पारम्परिक संगीत है, वह वहुत कुछ इस सारे प्रभाव से अभी तक भी मुक्त रह पाया है और यह एक वहुत वड़ी घटना है। कुछ खास वात है संगीत में जो इतनी जल्दी उस पर असर नहीं होता। साहित्य में वहुत असर हुआ, चित्र में और भी हुआ।

चित्र में तो एक नयी धारा चली जिसको प्रेरणा संगीत से ही मिली। आज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की जो 'ऐब्स्ट्रेक्ट पेंटिंग' है, जाहिर बात है कि इसकी हवा पश्चिम से ही आयी है और पश्चिम में इसकी शुरुआत जो हुई, वह इसी बात को लेकर हुई कि संगीत यदि बिल्कुल वाचकता से स्वतन्त्र रहकर अपना काम कर लेता है, तो चित्र के लिए यह मजबूरी क्यों हो कि चित्र ऐसे ही हों कि जिनका जीवन के किसी भी पदार्थ से सादृश्य बैठता हो। हम ऐसा चित्र क्यों न बनाएँ, जिसका कहीं से कोई सादृश्य नहीं बैठता हो और तब भी चित्र बन जाय। यदि संगीत स्वतन्त्र हो सकता है तो चित्र क्यों न स्वतन्त्र हो? यह जो एक स्वायत्तता (ऑटोनॉमी) की उत्कट प्रेरणा है, उसके लिए सभी स्वीकार करते हैं कि यह संगीत से ही मिली है। क्योंकि संगीत की 'ऑटोनॉमी' बड़ी जबरदस्त है, जिसकी थोड़ी-सी चर्चा मैंने कल की थी। बिना किसी बाह्य सन्दर्भ के वह रह सकता है, अपने-आपको प्रतिष्ठित कर लेता है। कुछ भी अर्थ यदि उसका न बने, तो भी वह अपने को प्रतिष्ठित कर लेगा। चित्र में भी वही धारा चली कि हमें किसी पदार्थ का अनुकरण नहीं करना है। किसी भी पदार्थ को या किसी घटना को चित्रित करना हमारा काम नहीं है। हम चित्र बनायेंगे, पर ऐसा बनायेंगे कि जिसका कोई नियत अर्थ होना बिल्कुल जरूरी न हो। नियत अर्थ तो मोटे तौर से सादृश्य से ही होता है। फिर साहित्य में भी यह आया कि उद्वेलन, आलोड़न जरूरी है, न कि शान्ति की लोरी देकर सुला देना, न कि रसपरिपाक की बात सोचना, जिसमें कि आनन्द की बात है, आनन्द के भोग की बात है और जीवनविमुख होने की बात है, इसकी आज के लिए क्या प्रासंगिकता है?

मुझे लगता है कि अगर हम सचमुच सही ढंग से रस को समझने का यत्न करें, रस-सम्बन्धी जो चिन्तन है, उसे समझने का यत्न करें तो शायद हमें यह समझ में आयेगा, शायद हम मानने के लिए स्वयं विवश हो जाएँगे कि रस की आवश्यकता मनुष्य को हर देश में, हर काल में है, चाहे कितना भी परिवर्तन होता चले। क्यों? क्योंकि रस की धारणा हमारी क्या है? रस की धारणा यह है कि चाहे एक क्षण के लिए वह अनुभूति हो या उस स्तर पर हम पहुँचें, पर वह एक क्षण अखण्डता का क्षण है। यानी वह अखण्डता की बात है। ये सारी बातें सच हैं कि चारों ओर बहुत दुःख है, बहुत शोषण है, बहुत पीड़न है। लेकिन जितना अधिक बिखरा हुआ है मनुष्य, उतनी ही अधिक क्या उसकी यह आवश्यकता नहीं है कि उसे, चाहे वह क्षण भर के लिए हो, लेकिन अखण्डता का, सारी टूटन, सारा बिखराव सिमट जाने का एक अनुभव हो। और ये मेरे शब्द नहीं हैं, मैं नहीं कहती कि रस के अनुभव का वह क्षण अखण्ड है। आचार्यों ने ही कहा है। इन शब्दों में कहा है कि उस समय 'वेद्यान्तर' का संस्पर्श नहीं रहता। रस के अनुभव का क्षण ऐसा है जिस समय और कुछ भी वेद्य नहीं है, और कुछ भी बोध नहीं हो रहा है, और कोई भी संवेदन नहीं हो रहा है। यही तो अखण्डता की बात है। यह नहीं कि यह भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देख रहे हैं, वह भी देख रहे हैं, यह भी सुन रहे हैं, यह भी सूँघ रहे हैं, ऐसा नहीं है। (द्र० अनु० ४ ग) 'वेद्यान्तरसंस्पर्शरहित' है वह, फिर क्या है, अपने-आप में पर्यवसित है, उसका पर्यवसन स्वात्ममात्र में है, यह नहीं कि वहाँ से फिर और कहीं जाना है, और कोई गन्तव्य नहीं, उसका पर्यवसान अपने-आप में है। पर्यवसान वही है। उसके आगे कोई आगे उद्देश्य नहीं है उसका, आनन्द भी नहीं, क्योंकि आनन्द-मय तो वह स्वयं है, यह भी नहीं कहा कि उसका उद्देश्य आनन्द है। उद्देश्य का कोई सवाल ही नहीं है, वह स्वयं आनन्दमय है। स्वात्ममात्र में पर्यवसित है, फिर क्या है? कि न वह अपना है और न पराया है। यानी जीवन में हम या तो तादात्म्य कर लेते हैं, मेरा दुःख मेरा सुख यह 'मेरा' जो है, दुःख-सुख में भी हम उसको लगाना चाहते हैं। यह मेरा दुःख यह मेरा सुख यह दूसरे का दुःख, ये दूसरे का सुख, यह जो मेरा शत्रु है उसका सुख-दुःख, यह जो 'मेरे' से तटस्थ है उसका सुख-दुःख। ये सारे के सारे सम्बन्ध हम बैठाते रहते हैं। क्या ऐसा कभी नहीं होना चाहिए कि इन सबसे कम-से-कम एक क्षण के लिए तो अलग हो जाएँ। यह जो अहं-केन्द्रित जीवन है, यह जो छोटा 'अहं', सबका जो एक-एक सीमित 'अहं' है, उसी को लेकर अपने-अपने दायरों में हम लोग जी रहे हैं, बड़े सिमटे हुए दायरों में। यह जो इतना सीमित 'अहं' है हमारा, क्या ऐसा कोई क्षण नहीं चाहिए जब कम से कम इसका एक विराट् अहं में विलय हो जाय, कुछ देर के लिए ही सही। इसलिए यह तो मनुष्यमात्र की हर देशकाल में आवश्यकता है कि वह कम-से-कम थोड़ी देर के लिए समग्रता और अखण्डता में जी सके, चाहे वह जीना कितना ही क्षणिक क्यों न हो, वही क्षण मूल्यवान् है। अखण्डता तभी आती है, जब छोटे अहं का विलय हो जाय। हम लोगों के जो खण्डित-खण्डित अहं हैं वे पीछे छूट जायें थोड़ी देर के लिए।

और फिर एक बात और है; हम यह कहें कि हम रस की बात नहीं करेंगे, न करें भले, लेकिन हम कुछ भी करें, चाहे बिना किसी सादृश्य के चित्र बनायें, चाहे कविता ऐसी करें कि जो बहुत अमूर्त हो, जितनी अमूर्त हो सके, उतनी अमूर्त उसको बनाएँ, उसमें हम कहें कि न हमें करुणा लाना है, न हास लाना है, न शृंगार लाना है, ठीक है, न लायें, कोई बात नहीं, कुछ भी करें, लेकिन क्या हम इस बात से बच सकते हैं कि कोई-न कोई चित्तवृत्ति वहाँ भी तह में रहेगी? चाहे कुछ भी करें, चित्र का मान लीजिए कुछ भी सादृश्य नहीं है, किसी बात से सादृश्य नहीं है, लेकिन उसमें रंग कैसे हैं, रेखाएँ कैसी हैं, वे और कुछ नहीं तो वही, जो मैंने सुकुमार और उद्धत की बात कही थी, उतनी व्यंजना तो अवश्य करेंगे, इससे कोई बच नहीं सकता। चित्तवृत्ति तो हमारे जीवन में, जीवन के हर क्षण में है। किसी-न-किसी चित्तवृत्ति में तो हम जीते ही हैं। उससे बचकर न कला का स्रष्टा रह सकता है और न कला का द्रष्टा या श्रोता रह सकता है। तो किसी-न-किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्तवृत्ति से हम नहीं जुड़ेंगे चित्र के माध्यम से या कविता के माध्यम से ऐसा तो सम्भव नहीं है। हो सकता है कि आप कहें कि हम उसको ये सब नाम नहीं देना चाहते; तो, नाम न देने का उपक्रम तो कई आचार्य पहले भी कर चुके हैं, आज हम भी कर लें, तो कोई बुरी बात नहीं, चाहे जो कहें नामों की कोई बात नहीं। यह कोई आग्रह नहीं है कि हम नौ रस जरूर मानें या आठ मानें या बारह मानें, कोई बात नहीं। कोई भी नाम भले न दें, कोई हर्ज नहीं है, लेकिन दो बातें जरूर स्वीकार करनी होंगी; चाहे जो देश और काल हो, चाहे जैसा पात्र हो, दो बातों से हम नही बच सकते।

एक तो यह कि कुछ भी हम करें, उसके बिल्कुल अन्तस्तल में, बिल्कुल निचली तह में कोई-न-कोई चित्तवृत्ति जरूर है, चाहे वह आक्रोश की ही हो, उसमें कोई बात नहीं। हम कहें कि आक्रोश जो है, इसको प्रकट करना है, हमें शान्ति को प्रकट नहीं करना है, ठीक है, अच्छी बात है। आक्रोश को प्रकट करें तो आक्रोश भी एक चित्तवृत्ति है, यह भी मन की एक अवस्था है, वह भी ठीक है, उसे करें। लेकिन बात इतनी-सी है कि चाहे वह उस कला का स्रष्टा हो, और चाहे उसका भोक्ता हो, दोनों को ही आक्रोश हो, विक्रोश हो, आक्रन्दन हो, उद्वेग हो, आवेग हो, कुछ भी हो। स्रष्टा के लिए उसे प्रकट करने में और भोक्ता को उसे देखने या सुनने में ऐसे क्षण की आवश्यकता जरूर है, जो कि आक्रोशमय होते हुए भी जिसकी तह में शान्ति है। नाट्यशास्त्र में ही शान्त को प्रकृति-रूप कहा गया है:

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।

(द्र० ग्रनु० ४ घ)

ये रत्यादि जितने स्थायिभाव या व्यभिचारिभाव कहे हैं, वे तो विकृति हैं, चित्त में कुछ-न-कुछ। विकृति का कोई बुरा अर्थ नहीं है, विकृति का मतलब है कुछ-न-कुछ परिवर्तन हुआ चित्त में, कुछ-न-कुछ परिवर्तन की यह द्योतक है, प्रकृति तो शान्त ही है। यानी मान लीजिए जब हम क्रोध में नहीं हैं, आक्रोश में नहीं हैं, ईर्ष्या में नहीं हैं, तो क्या हैं, शान्त हैं। शान्त कोई अलग से कहीं से लाना नहीं पड़ता। जब कोई भी विकार नहीं है, उस समय शान्त है और उत्कृष्ट सर्जन के लिए चाहे आरम्भ वाल्मीकि की भाँति चित्त के उद्वेलन से हुआ हो, शान्ति अत्यन्त आवश्यक है। आदिकवि का भी आरम्भ तो चित्त के उद्वेलन से हुआ था, बड़ा दुःख हुआ था उन्हें क्रौंच के जोड़े को बिछुड़ते देखकर, किन्तु जो काव्य फूट पड़ा उनके मुँह से वह उस दुःख की दशा में से नहीं फूट पड़ा, इसीलिए तो ध्वन्यालोककार ने कहा कि *'नासौ मुनेः शोकः'*। यह शोक थोड़े ही है, अगर कहीं शोक होता, *'न हि शोकसंतप्तस्यैषा दशा भवति'*। तो यह दशा थोड़े ही होती कि काव्य निकलने लगता मुख से। आक्रोश से आरम्भ हो सकता है, उद्वेग से, आवेग से, किसी से भी आरम्भ हो सकता है, हमारे सर्जन की प्रक्रिया का, किन्तु उत्कृष्ट सर्जन उसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्षण में से फूटेगा, जब उस आक्रोश से आरम्भ करके भी एक समाहित भाव में हमारा चित्त पहुँच जाय। वैसे ही भोक्ता के लिए भी है। उसका भी चरम प्राप्य यह नहीं कि आक्रोश में ही उसे छोड़ दिया जाय। आक्रोश उसके सामने प्रकट अवश्य किया जाय, उसके चित्त को भी अच्छी तरह से मथा जाये लेकिन इस ढंग से मथा जाय कि उस मन्थन में से भी उसको समग्रता का, अखण्डता का क्षण प्राप्त हो सके। यही तो रस है, न नाम दे कोई रस का। नाम भले ही न दे, नामों पर तो कोई आग्रह रहा ही नहीं हमारा, इतने-इतने आचार्य नामों को बदलते रहे, जोड़ते रहे, घटाते रहे, सब कुछ होता रहा। इसका मैंने आज उल्लेख खास तौर से इसलिए किया कि पतझड़ के साथ यह बात जमेगी। यह आग्रह हमारी परम्परा का नहीं है कि हम नौ ही रस मानें, उनको ये ही नाम दें या ऐसा करें, वैसा करें। चाहे कुछ न करें, लेकिन इतना तो मानना हमारे ही हित में है कि यह जो परिमित भाव में हम जी रहे हैं, बँधे-बँधे जी रहे हैं, उससे मुक्ति का क्षण हमें अवश्य अभीष्ट है।

दूसरी बात यह है कि हम सुख और दुःख के झूले पर चढ़े हुए हैं। झूला जैसे एक बार ऊपर जाता है फिर नीचे आता है, उस झूले पर कोई आदमी चढ़ जाय, वह कभी ऊपर जायेगा और कभी नीचे आ जायेगा। यही हमारी स्थिति है। एक बार दुख है, एक बार दुःख है। जीवन में तो यही है, राग है तो द्वेष भी है, सुख है तो मुर्ख भी है, किन्तु ऐसी क्या कोई स्थिति नहीं हो सकती जब इस झूले पर से हम उतर जायें? एकाध क्षण के लिए इस झूले पर से उतर जायें, तो क्या होगा उस क्षण में कि न तो इस दृष्टि से सुख होगा और न जीवन की दृष्टि से दुःख होगा, बल्कि आनन्द जो है, जिसे बाहर से कुछ नहीं चाहिए, ऐसी एक स्थिति, जो अपने आप में रममाण है, अपने आपमें जिसका रमण होता है, उस पर पहुँच जायें, क्योंकि सारी कला हमें बाहर से भीतर तो किसी-न-किसी प्रकार ले ही जाती है, इससे तो इनकार नहीं किया जा सकता। माध्यम हम सबको बाहर का लेना पड़ता है। किसी का रंग और रेखा है, किसी का शब्द और अर्थ है, किसी का स्वर और ताल है, पद भी है उसके साथ या किसी का पत्थर है, लकड़ी है, मिट्टी है, प्लास्टर है, कुछ भी है। वह तो है अपनी जगह, किन्तु सारे-के-सारे माध्यमों का उद्गम चित्त-वृत्ति के साथ जुड़ा हुआ है। जैसे उद्गम चित्तवृत्ति के साथ जुड़ा हुआ है, वैसे ही उनका पर्यवसान भी चित्तवृत्ति की आस्वाद-दशा में है। उसी को हम रस कहते हैं, यानी चित्तवृत्ति से जिसका उद्गम हुआ है, ऐसी कोई कृति बनी है, जो कि हमें उस चित्तवृत्ति का अनुभव कराती है, जिसमें से उसका उद्गम हुआ है और इस ढंग से कराती है कि उसी अनुभव में हम एक समग्रता का, परिमितभाव को छोड़ने का और परिमित अहंकार को छोड़ने का, बिखराव को छोड़ने का और समाहितभाव में आने का एक अनुभव ले पाते हैं।

तो मुझे ऐसा लगता है कि आज जितना ही अधिक बिखराव, टूटन, उद्वेग,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आलोड़न मनुष्य को बेचैन किये हुए है, उतनी ही अधिक उसकी आवश्यकता है इस बेचैनी से कुछ भी देर के लिए अलग होने की। आरम्भ भले ही उससे हो, लेकिन ऐसे क्षण में पहुँचने की हमारी आवश्यकता है, जहाँ न हमारी दृष्टि से चैन है और न हमारी दृष्टि से बेचैनी है, क्योंकि इसीलिए तो लोकोत्तर कहा है न। उस क्षण को लोकोत्तर जो कहा है, वह इसीलिए कहा है कि वह ऐसा अनुभव है, जो जीवन के अन्य किसी अनुभव के तुल्य नहीं रखा जा सकता! इसको आचार्यों ने तरह-तरह से कहा है कि वह न तो जाग्रत है, न वह स्वप्न है, न वह सुषुप्ति है और न वह योगी की समाधि ही है। आप कहिये कि समाधि है, तो वह भी नहीं है, न वह सत्य है न मिथ्या है, न वह सदृश है, न विसदृश है, कुछ भी नहीं है, आप उसको, जीवन की जितने प्रकार की अनुभव की दशाएँ हैं, उनमें से किसी के भी समतुल्य या बिल्कुल समकक्ष नहीं रख सकते। ऐसा अनुभव, मुझे नहीं लगता, कि मनुष्य को जीवनपराङ्मुख बनायेगा।

अब एक और बात कहती हूँ, पता नहीं अनधिकार चेष्टा कर रही हूँ या क्या, फिर भी मन में आ रही है, इसलिए कहती हूँ। हम यह कहते हैं आज कि इतना शोषण है, इतना उत्पीड़न है, कि हमें बेचैन होना चाहिए। जरूर होना चाहिए, लेकिन उस बेचैनी से शुरू होकर अगर हम समाहितभाव में नहीं पहुँचेंगे, तो उसको दूर करने के लिए कुछ नहीं कर सकेंगे सही ढंग से। चिल्लाने से थोड़े ही कुछ होता है। उस सारी पीड़ा को दूर करने के लिए मन में जो समाहित भाव चाहिए, वह आक्रोश से थोड़े ही उपजता है। वह तो तभी उपजेगा, जब आक्रोश में से शुरू होकर हम शान्ति के क्षण में पहुँचें और तब किसी निर्णय के भागीदार बनें कि इस अन्याय का हमें जीवन में प्रतिकार करना है। उस क्षण में जो निर्णय होगा, वही वास्तव में प्रभावशाली होगा। जैसे कि दक्षिण अफ्रीका में कितने सारे काले लोगों के साथ दुर्व्यवहार गोरे लोग करते रहे होंगे। लेकिन एक गांधी जी ऐसे निकले, कि उनके साथ जब दुर्व्यवहार हुआ, ट्रेन में से गार्ड ने जब धक्का देकर उन्हें गिरा दिया, तब निश्चित बात है कि दुःख हुआ होगा, क्यों नहीं हुआ होगा, दुःख बहुत हुआ होगा, अपमान का बोध भी हुआ होगा, लेकिन उस अपमानबोध में से कितने बड़े एक संकल्प ने जन्म लिया कि जिसके बल पर इतना प्रबल संघर्ष वे उस सारी अंग्रेजी सत्ता के विरोध में कर सके। मुझे लगता है कि वह भी आदिकवि के जैसा ही क्षण उनके जीवन में रहा होगा। यानी उसमें इतना तन्मयी-भाव था, या वह इतना गहरे जाकर चोट कर गया कि उसमें से नव-सर्जन हुआ। केवल चोट में ही यदि रह जाते तो अपमान में जलते, उसमें से द्वेष पैदा होता गोरी जाति के प्रति। द्वेष भी नहीं पैदा हुआ और एक प्रबल संघर्ष का जो उसमें से बल जागा, वह बल कहाँ से आता है? मैं तो कहूँगी कि आक्रोश में से कभी बल नहीं आता। यह समाहितभाव से ही आ सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसलिए यदि हम इस दृष्टि से भी देखें कि आज हमारी जरूरत यह है कि हम समाज में व्याप्त सारी अव्यवस्था, सारे शोषण, सारी पीड़ा के प्रति सजग रहें, तो इसके प्रति सजग रहने में रस किसी तरह बाधक नहीं है, बल्कि उसके प्रतिकार में कुछ कर सकने में साधक ही होगा। केवल रोने-चिल्लाने से तो पीड़ा दूर नहीं होती है, केवल आक्रोश करने से भी पीड़ा दूर नहीं होती है, नारे लगाने से भी नहीं होती है। बहुत गहराई से किसी भी अन्याय का या असत्य का प्रतिकार करने का बल या उसके लिए शक्ति भी प्राप्त करना हो, तो इस प्रकार की अखण्डता का क्षण जितना अधिक मिले, जितना बार-बार मिले, वह सहायक होगा, न कि बाधक होगा। वह जीवनपराङ्मुख नहीं बनायेगा हमें। वह दुःख से, जो हमारे चारों ओर व्याप्त दुःख है, उससे विमुख नहीं करेगा, ऐसा कम-से-कम आचार्यों के शब्दों को देखकर मुझे लगता है, क्योंकि समाज में व्याप्त इस सारी अव्यवस्था, सारे अन्याय का प्रतिकार करने के लिए जितना बल चाहिए, वह परिमितभाव में से नहीं आ सकता। किसी प्रकार अपरिमित होने पर ही, अपरिमितभाव में पहुँचने पर ही वह बल प्राप्त हो सकता है। गांधीजी जैसों को, जैसे आदिकवि को, किसी घटना में से ही प्राप्त हो गया सीधे, कला का माध्यम नहीं लेना पड़ा उनको। काव्य तो बाद में फूटा। उनको तो सीधे घटना ही में से, रस मिल गया। वही कहा न कि कवि का हृद्गत रस बीज है, वह तो ठीक है, उनको तो वहीं से मिल गया। लेकिन हम और आपको कला के माध्यम से मिल सकता है, तो इसलिए कला चाहे हमारे आवेग-उद्वेग को व्यक्त करे, आक्रोश को व्यक्त करे, भले ही वह किसी भी चित्तवृत्ति का नाम लेकर कुछ न कहना चाहे, कोई बात नहीं, लेकिन :

नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

(रस के बिना कोई बात शुरू ही नहीं होती) यह जो ना० शा० ने कहा, आज भी सत्य है। कुछ भी मनुष्य नहीं करता बिना चित्तवृत्ति के। मन में कुछ होता है, तभी करता है और वह चित्तवृत्ति इस रूप में हमारे अनुभव में आये कि वह न हमारी हो, न दूसरे की हो, न अपने की हो, न पराये की हो। हमारा सारा परिमितभाव, सारा मर्यादितभाव, जितना हमारा बन्धन है मिट जाए। बन्धन और क्या है? मैं यहाँ का हूँ, मैं इस देश का निवासी हूँ, मेरा यह सामाजिक स्तर है, ये ही तो सारे बन्ध हैं और क्या बन्ध हैं? इन सारे परिमित करने वाले बन्धों से छूट करके उस समय बिल्कुल एक सर्वसामान्य चित्तवृत्ति का जो अनुभव होगा, वहीं से शुरुआत हुई है, उसका जो अनुभव है, वही अखण्ड अनुभव, वही समग्र अनुभव, वही रस है। आज चारों ओर दुनिया में समग्रता की, अखण्डता की बात हो रही है, जहाँ-तहाँ। जो लोग परम्परागत शब्दों को लेकर बात नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करना चाहते, वे भी इसकी बात करते हैं, समग्रता और अखण्डता की। जो परम्परागत शब्दों को लेकर व्याख्या करते हैं, वे भी किसी-न-किसी प्रकार व्याख्या करते हैं इसी प्रकार की। आज जितनी आवश्यकता है मनुष्य को परिमितभाव में से निकलकर चाहे क्षण भर को ही सही अपरिमितभाव में जाकर समग्रता और अखण्डता का अनुभव करने की, ऐसी और समय में भी भले ही रही होगी, लेकिन आज उससे यदि अधिक नहीं, तो कुछ कम तो नहीं ही है। शायद अधिक ही है आज की आवश्यकता।

कहा जा सकता है कि ये सब पलायन की बातें हैं, हम आँख मूंदना चाहते हैं, चारों ओर व्याप्त पीड़ा से, दुःख से, आँख मूंदकर चाहते हैं कि शुतुर्मुर्ग की तरह अपना सब कुछ समेट कर बैठ जाएँ, रेत में अपने को दबा लें। ऐसा तो नहीं है कहीं ? अभी पहले मैंने जो कहा, उसी में इसका भी उत्तर आयेगा कि यह पलायन की बात नहीं, अपितु और अधिक गहराई में जाकर उस सारे दुःख को अनुभव करके और वास्तव में उसका प्रतिकार करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है हमारे लिए। पलायन की कोई बात ही नहीं है। यदि सच्चे ढंग से हमें रस की अनुभूति होती है, तो उसमें पलायन की कोई बात नहीं है। यह भी जरूरी नहीं है कि उससे हम सचमुच किसी प्रतिकार के लिए समर्थ बन जाएंगे, शायद वैसा कुछ न भी हो, लेकिन यदि हमें प्रतिकार का सामर्थ्य अर्जित करना है, तो यह एक बहुत बड़ा साधन उसके लिए हो सकता है, इतना मैं अवश्य कहूँगी।

जहाँ तक आनन्द की बात है, उपनिषद् का दर्शन तो यही है कि जीवन का केन्द्र या नाभि जो है, वह आनन्द ही है। *'आनन्देन जातानि जीवन्ति।'* (द्र० अनु० ४ ङ) यह सारा जो कुछ है, आनन्द से उत्पन्न हुए हैं हम, आनन्द में ही वापस जाएँगे। आनन्द में ही जी रहे हैं। कोई कह सकता है कि बहुत पीड़ा में जी रहे हैं; चाहे जितनी पीड़ा में जी रहे हैं उसकी तह में आनन्द है, तभी जी रहे हैं, अन्यथा जीते नहीं। जीवन के उस रस के साथ जुड़ने में जीवन से कोई पलायन तो नहीं है। जीवन के दुःख से भी पलायन नहीं है। यह जरूर है कि ऐसा हम अनुभव चाहते हैं जिसमें यह जीवन का जो सुख-दुःख है इसके झूले से हम उतर जाएँ और एक अखण्ड आनन्द के बोध में पहुँचे, जो अपने आप में है, अपने आप से स्वतः उद्वेलित होता है, उसको बाहर से कुछ लेना-देना नहीं पड़ता, ऐसे एक अनुभव में पहुँच जाएँ।

जहाँ तक भोग की बात है, यह आक्षेप हो सकता है कि ये आनन्दवाद, भोगवाद की बातें हैं। एक 'वाद' शब्द बड़ा हमारे पीछे पड़ गया है। मैं इससे बहुत बचना चाहती हूँ, इसलिए मैंने कभी ध्वनिवादी, रसवादी यह तक नहीं कहा, क्योंकि वे लोग अपने आपको ध्वनिवादी, रसवादी नहीं कहते थे। ये तो हमारे दिये हुए 'लेबल' हैं, उन लोगों को हम 'लेबल' दे रहे हैं कि अमुक आचार्य रस-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वादी था, अमुक आचार्य ध्वनिवादी था। वास्तव में ऐसे कोई वाद की वात नहीं है यहाँ। लेकिन यह भोगवाद ऐसा-वैसा भोग नहीं, क्योंकि देखिये 'भोग' की व्याख्या क्या आचार्यों ने की है। जीवन में हम जिसे भोग समझते हैं, उसमें रजोगुण प्रधान रहता है, 'मेरे पास यह भी होना चाहिए' 'आज मैंने इतना पाया, मेरे पास इतना और होना चाहिए, यह ले लिया, अब यह आना चाहिए', यह सारा रजोगुण प्रधान है, जिसको हम और आप भोग समझते हैं जीवन में। आचार्यों ने क्या कहा? उन्होंने कहा कि रजस् और तमस् जब बिल्कुल दब जाएँ, सत्वोद्रेक हो, सत्त्व ही बिल्कुल प्रधान हो जाए या सत्त्वमात्र रह जाय, तब वह क्षण भोग का है, रस को अगर भोग कहें तो। हम जीवन में जिसे भोग कहते हैं जो रजोगुण पर टिका हुआ है, वैसे भोग की वात तो रस-सिद्धान्त नहीं कह रहा है। यदि भोग शब्द उसमें आ भी जाय, या उसका कोई पर्याय आ जाय, तो उसका अर्थ यही है कि जीवन में जो रजोगुण, तमोगुण के चक्कर में हम कलाबाजी तरह-तरह की करते रहते हैं, उन सबको समेटकर सत्त्व के उद्रेक का क्षण होना है, जो कि प्रकाशमय है, जो कि आनन्दमय है, जिसमें न अन्धकार है और न जिसमें अनावश्यक विचलित भाव है, जोकि रजोगुण का धर्म है।

तो यह सत्त्वोद्रेक की बात, वेद्यान्तरसंस्पर्शरहित होने की बात, स्वात्ममात्र में पर्यवसित होने की वात और एक ऐसे क्षण में पहुँचने की वात जहाँ विशुद्ध रूप से आनन्द है, विशुद्ध रूप से सत्त्व है, यह बात कोई ऐसी तो नहीं हो सकती जो हमें पलायन में ले जाय या जीवन से विमुख कर दे। और वास्तव में तो हम चाह कर भी रस से बच नहीं सकते। हम कहें कि हम किसी रस को लेकर काव्य निर्मित नहीं कर रहे हैं, बिल्कुल ठीक है। यदि काव्य है, तो रस न हो यह हो ही नहीं सकता। यदि पूछें कि रस कहाँ है? तो उत्तर होगा कि कोई-न-कोई चित्तवृत्ति तो उसमें होगी। चित्तवृत्ति के बिना तो कुछ नहीं हो सकता। तो वह चित्तवृत्ति इस तरह से श्रोता या द्रष्टा तक संप्रेषित हो कि वह अपने परिमित भाव में से उबर सके, यही तो रस है, और क्या है? रस का काव्य में होना, इसे एक जगह उँगली रखकर कोई नहीं दिखा सकता कि यह रस है, यहाँ है। आज जैसे हम कई शास्त्रीय परिभाषाओं को छोड़कर भी अपना काम चला लेते हैं, वैसे ही कोई हर्ज नहीं है, अगर हम इस सारे चौखटे को भी छोड़ दें थोड़ी देर के लिए। रस के सिद्धान्त का जो एक चौखटा बना हुआ है, उसको छोड़ दें, उसके नामों को छोड़ दें, कोई बात नहीं है, परन्तु यह सिद्धान्त कि जैसे रसना के विषय में संयोग होता है, वैसे ही चित्तवृत्तियों का भी संयोग हुआ करता है, भावों का भी संयोग होता है, इससे नहीं बच सकते; भावों का संयोग होता ही है। कारण-कार्य जीवन में जैसे होते हैं, वैसे ही कला में भी उपस्थित होते हैं। वहाँ वे विभाव अनुभाव का रूप ग्रहण कर लेते हैं, हम उन्हें वे नाम दें, चाहे न दें।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वहूनां संयोगादपूर्वो रसः उत्पद्यमानः...

(द्र० प्रनु० ४ च)

उसका उदाहरण यही जिह्वा या रसना के रस में दिया ना० शा० ने। तो 'वहूनां संयोगः' क्या आज नहीं होता है ? होता ही है। संयोग की वात से नहीं वच सकते। जीवन के कारण-कार्य कला में सर्वथा परिवर्तित हो जाते हैं। उनका विल्कुल रूपान्तर हो जाता है, इस वात से नहीं वच सकते। यदि इस वात से नहीं वच सकते कि चित्तवृत्ति से ही कोई भी सर्जन होता है, चाहे हम ऐसा चित्र वनाएँ, जिसमें हम किसी वात का सादृश्य नहीं रखना चाहते, किन्तु फिर भी हम उस चित्र को वनाते समय किसी न किसी मनोदशा में अवश्य रहे होंगे। अव वह मनोदशा कितनी दर्शक तक संप्रेषित हो पाती है, नहीं हो पाती है, वह वात अलग है, किन्तु हर दर्शक अपने-अपने ढंग से उसका कुछ-न-कुछ सादृश्य किसी-न-किसी चित्तवृत्ति के साथ खोज लेगा, पा लेगा अपने आप; हमारे विना चाहे भी कुछ न कुछ आ ही जाएगा।

हाँ, यह जरूर है कि हम यह उद्देश्य रखकर यदि न चलें कि हमें इस प्रकार की अखण्डता के अनुभव में जाना है, तो क्या ऐसा होगा कि वैसा अनुभव हमें नहीं प्राप्त होगा, यह जरा मुश्किल सवाल है। वैसे सिद्धान्त तो यह है कि जैसे कवीर ने कहा 'उड़ गये फुलवा रह गयी वास'। जीवन की जितनी घटनाओं में से हम गुजरते चले जाते हैं, उनको अगर फूल मान लें, तो वे तो सव झड़ जाने वाली हैं। घटनाचक्र में से हम गुजरते चले जाते हैं और वह सव समाप्त होता चला जाता है। रह क्या जाता है ? हमारे चित्त पर उसका संस्कार रह जाता है, यह सुख हुआ था, यह दुःख हुआ था। जो भी हुआ था, वे घटनाएँ तो चली गयीं, वीत गयीं, लेकिन उनका संस्कार रह जाता है चित्त में, जिसको आचार्यों ने वासना कहा है। वासना रह जाती है, वस। जव इस प्रकार की कलाकृतियाँ होंगी, जिसमें कोई सुनिश्चित प्रतिपादन नहीं कहा जा सकता, तो फिर यही है कि अपनी-अपनी वासना के अनुसार हर व्यक्ति को अनुभव होगा या हो सकता है। शायद ऐसा हो कि एक नियत धरातल हमारे पास न रह पाये, जैसा कि मैंने संगीत के लिए भी कहा था कि संगीत के साथ जव सार्थक पद का संयोग नहीं रहता है, तो उसकी भी कुछ ऐसी स्थिति रहती है कि आप उसको कोई नियत नाम नहीं दे सकते। वड़ा कठिन होता है नाम देना, कोई 'लेवल' लगाना। आज हमारी चित्रकला के क्षेत्र में शायद ऐसा ही हो, शायद काव्य में भी हो, मैं नहीं कह सकती। लेकिन काव्य में जरा फिर भी उतनी अनिश्चितता होना मुश्किल है, इसलिए कि शब्द और अर्थ का नियत सम्वन्ध तो किसी-न-किसी धरातल पर वहाँ है ही, उसको छोड़कर कितनी भी उड़ान भरें हम, फिर भी एकदम से उस धरती को छोड़कर तो नहीं चल सकते, वहाँ धरती फिर भी हमारे पास है। जव तक मनुष्य के चित्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में वासना रहने का धर्म बना हुआ है, जब तक मनुष्य के चित्त में अखण्डता के प्रति आग्रह या अनुराग बना हुआ है, जब तक मनुष्य सुख-दुःख के झूले से थोड़ी देर के लिए भी उतरने की आतुरता लिए हुए है, तब तक रस का सिद्धान्त अनावश्यक या अप्रासंगिक हो ही नहीं सकता, ऐसा मुझे लगता है।

अब मैं और अधिक बोलूँगी नहीं। इला बहन का गाने का आग्रह था, पर तीनों दिन गा नहीं पाई क्योंकि बोलने में साँस एक अलग ढंग से काम करता है, जिसके बाद गाना बहुत कठिन होता है। आज फिर भी मैं समापन गाने के द्वारा ही करूँगी। और वह गाना भी कल जो मैंने बात की थी, उसके साथ जुड़ा होगा। इसके पीछे एक और कारण है कि इसके द्वारा हमारे पूज्य गुरुजी पं० ओंकारानाथ जी ठाकुर का पुण्य स्मरण इस बहाने हो जाएगा, क्योंकि यह उनकी रचना है, जो मैं गाऊँगी। और उसके द्वारा मेरे कल के व्याख्यान की जो बात थी, उसका भी उदाहरण बन जाएगा।

कल मैंने यह कहा था कि जब वाचक पद लेकर हम कुछ गायन करते हैं तो उसमें एक निश्चित दिशा हमें मिलती है, क्योंकि हमने भले ही उड़ान भरी हो, पर कहीं एकाध पैर रखने को ठोस धरती हमारे पास रहती है। तो यह ऐसा ही है, एक छोटा-सा संवाद है। हमारे गुरुजी ने प्रसादजी की दो कृतियों को संगीतबद्ध किया था, बल्कि संगीतनाट्यबद्ध किया था, यों कहा जाएगा। एक तो कामायनी के चुने हुए अंशों को लेकर और दूसरे प्रसाद जी का एक गद्य नाटक है 'कामना' उसके चुने हुए अंशों को लेकर। अब इसमें नाट्यात्मकता स्वयं-सिद्ध है। यहाँ संगीत जो है, ऐसा है जो कि नाट्य की अवस्था से जुड़ा हुआ है। वह संगीत जो होगा वह एक स्तर पर अपना काम करेगा, उसका मैं उदाहरण दूँगी। और फिर जिस राग में वह संवाद निबद्ध है, उसी राग को मैं अलग से बिना पद के भी थोड़ी देर गाऊँगी। तो आप देखेंगे कि दोनों में कैसे अन्तर है। बिना पद के केवल राग में आलाप कर रहे हैं, तो कोई सुनिश्चित बात उसमें से निकाली नहीं जा सकती।

'कामना' के सभी पात्र चित्तवृत्तियों के प्रतीक हैं। उसकी नायिका है कामना। कामना के नाम से ही स्पष्ट है कि वह अधूरी रहती है हमेशा। कभी पूर्णता का अनुभव नहीं कर पाती। परिपूर्णता का तो बोध उसको होता ही नहीं है। पहले ही दृश्य में ऐसा है कि कामना है, उसकी सखियाँ हैं, फूलों के द्वीप में रहते हैं ये लोग। कामना बड़ी उखड़ी हुई-सी है, सब सखियों को भगा देती है, कहती है कि मुझे अकेला छोड़ दो, तुम लोग सब चली जाओ। सब चली जाती हैं। उसकी एक सखी है लीला, उसका जी नहीं मानता, वह फिर लौटकर आ जाती है और कामना से कुछ पूछती है। अब यहाँ लीला से बात शुरू होगी। संवाद लीला और कामना के बीच है। मुझे कुछ कहना नहीं होगा, आप स्वयं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समझ जाएँगे, कौन लीला है, कौन कामना है। लेकिन शुरुआत लीला से है, बस इतना-सा कह देने से सब काम हो जाता है। छोटा-सा इनका संवाद है। उसके बाद कामना की एक छोटी-सी स्वोक्ति या स्वगत है। उसके तत्काल बाद उसे दिखाई देता है कि कोई एक नवयुवक सागर के तट पर उतरकर चला आ रहा है। उसने सिर पर कुछ चमकीला पहना हुआ है। वहीं से सोने का प्रवेश होता है उस द्वीप में। प्रसाद जी ने ऐसा दिखाया है कि स्वर्ण के प्रवेश से सब दुर्गुण आते हैं, तो प्रवेश होता है किसी युवक का जो कि सिर पर सोने का मुकुट पहने है। उस पर भी थोड़ी-सी प्रतिक्रिया कामना अपनी व्यक्त करती है। बस इतना ही सा है। (द्र० अनु० ४ छ)

अब इसमें क्या है? यहाँ राग को परिस्फुट करने की बात नहीं है, यद्यपि यह संवाद राग में है जरूर। जहाँ तक लीला और कामना का संवाद है, बिहाग राग है। ठीक है, कोई भी पहचान लेगा, किन्तु यहाँ वही चित्तवृत्ति की बात आती है। व्यंजना की बात यहीं है, वाचक शब्द तो कह ही रहे हैं, 'तू फिर आ गयी?' लेकिन जैसे बोलचाल में भी ऐसे प्रश्न-सूचक वाक्य का अन्त ऊँचे स्वर पर होता है, वैसे ही यहाँ है। जैसे हमारी बोलचाल में स्वर का उतार-चढ़ाव या काकु का प्रयोग जरूरी होता है, उसका पूरा का पूरा प्रतिबिम्ब संगीत में आ सकता है, यदि संवेदनशील प्रयोक्ता हो, जैसे कि हमारे गुरु जी बड़े समर्थ प्रयोक्ता थे काकु के, और इस प्रकार की चित्तवृत्तियों को संगीत में प्रतिबिम्बित करने के। अतः वह कोई मुश्किल बात नहीं है। लेकिन सवाल यही है कि संगीत का इस प्रकार का प्रयोग यह एक धारा है, यह संगीत की समग्रता नहीं है। संगीत की समग्रता और भी एक धारा को लेकर (तब दोनों को) मिलाने से होती है। इन दोनों धाराओं का उल्लेख ना० शा० ने बड़े स्पष्ट रूप में किया है। एक ऐसा संगीत, जो कि नाट्य का अंग होकर चल रहा है, दूसरा ऐसा संगीत, जो कि स्वतन्त्र होकर, स्वायत्त होकर चल रहा है। अब इसी बिहाग को मैं बिना किसी पद के प्रस्तुत करती हूँ, केवल यहाँ दिखाने के लिए कि जब उस तरह मैं गाऊँगी तो आपको वैसा कुछ भी बोध नहीं होगा, जैसा कि उस संवाद में हुआ। यह राग की बात नहीं है, यह तो उसके विन्यास की बात है और साथ-साथ उसमें जो पद लगे हुए हैं, उसके कारण हो रहा है। अन्यथा बिहाग आप गाते रहिए तो कुछ नहीं होगा।

(बिहाग का आलाप)·········

अब ऐसे घण्टों आलाप कर सकता है गायक। उसमें अब ऐसा नहीं है कि कोई भी चित्तवृत्ति नहीं है, पर मैंने जैसा कहा, उसका नामकरण बड़ा मुश्किल है। इसीलिए आज की परिस्थिति में यदि हम नामकरणों को कुछ बदल दें या उन्हें छोड़ भी दें, तो कोई आपत्ति की बात नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैं वापस उसी बात पर आ जाती हूँ, पतझड़ पर। अब पतझड़ यह है कि आज हमें कुछ अनास्था के स्वर सुनाई देते हैं, कुछ आशंका के स्वर सुनाई देते हैं, कि शायद यह हमें अफीम तो नहीं पिलाई जा रही है रस के नाम से या कहीं ऐसी बात तो नहीं है कि हम जीवन-विमुख हो जायें, पलायनवादी हो जायें ऐसा तो कुछ नहीं है ? वह जो कुछ है, यह मुझे लगता है कि चिरस्थायी नहीं होगा। जैसे कि पतझड़ के बाद बसन्त आता है, ऐसा बसन्त अवश्य आयेगा। उसके आने की पदचाप शायद किसी-किसी को सुनाई भी दे रही हो। इसी आशा के साथ कि हम सबके जीवन में इस प्रकार की अखण्डता के, परिमित भाव के क्षय के क्षण अधिक से अधिक आयें, मैं आप सबसे विदा लेती हूँ। और वत्सलनिधि के प्रति अपनी ओर से पुनः एक बार अशेष धन्यवाद अर्पित करती हूँ, जिन्होंने मुझे यह अवसर दिया कि चार दिन तक अपनी टूटी-फूटी बातें आप लोगों के समक्ष रख सकूँ। बहुत बड़ा अवसर था मेरे लिए और जैसा मैंने पहले दिन कहा, एक चुनौती के रूप में इसे मैंने स्वीकार किया। पता नहीं क्या सफलता मिली। विफलता भी मिली हो तो कोई बात नहीं, किन्तु प्रयत्न करने में ही सार्थकता है।

अनुबन्ध

(क) रसों की आठ संख्या

शृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥
एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।
(ना० शा० ६, १५-१६ कख)

शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत, इस प्रकार नाट्य में आठ रस कहे गए हैं। आठ रस महात्मा द्रुहिण (ब्रह्मा) ने कहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(ख) करुण ही एकमात्र रस

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्।।
(उत्तररामचरित, ३ ४७)

एक रस करुण ही निमित्त-भेद से पृथक्-पृथक् विवर्तों का आश्रय लेता है, जैसे कि जल आवर्त (भँवर), बुलबुले, तरंग रूपी विकारों (को प्राप्त होता है), (किन्तु) वह सब कुछ जल ही है।

(ग) रसास्वाद-दशा का निरूपण

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्वादलौकिक-विभावादिशब्दव्यवहार्यैर्ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते, इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायवलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषित-वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीणमिवालिंगन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः। स च न कार्यः। विभावादिविनाशेऽपि तस्य संभवप्रसंगात्। नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासंभवात्। अपितु विभावादिभिर्व्यंजितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत्, न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिक-सिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्। चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाण-ताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षण-लोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम्। तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।
(काव्यप्रकाश ४, पृ० ९१-९५)

लोक में जो प्रमदादि हैं, (जो कि काव्य में विभाव बन जाते हैं) उनसे स्थायी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाव का अनुमान करने में जो लोग कुशल हैं, उनके लिए काव्य और नाट्य में, वही (प्रमदादि) कारणत्व आदि छोड़कर विभावनादि-व्यापारवान् बनने के कारण अलौकिक विभावादि शब्दों से व्यवहार्य (उक्त) होने लगते हैं। (तब फिर वे विभावादि) ये मेरे ही हैं, ये शत्रु के ही हैं, ये तटस्थ के ही हैं या ये मेरे ही नहीं हैं, ये शत्रु के ही नहीं हैं, ये तटस्थ के ही नहीं हैं, इस प्रकार सम्बन्ध-विशेष के परिहार (त्याग) या स्वीकार (ग्रहण) के नियम का अध्यवसाय न रहने के कारण साधारण होकर प्रतीत होने लगते हैं। उन (विभावादि) से सामाजिकों का वासनात्मक रूप से स्थित रत्यादिक स्थायी भाव अभिव्यक्त होता है। यद्यपि वह (स्थायी) नियत-प्रमातृ-गत रूप से स्थित है, तथापि 'साधारण' (व्यक्तिविशेष से सम्बन्धरहित) उपाय के बल से अर्थात् 'साधारण' बने हुए विभावादि के बल से उस काल के लिए परिमित प्रमातृ-भाव विगलित हो जाता है और उस कारण वेद्यान्तर-संपर्कशून्य (जहाँ किसी अन्य 'वेद्य' पदार्थ से सम्बन्ध नहीं रह जाता) अपरिमित भाव से प्रमाता, सकल सहृदयों के संवाद-भाजन साधारण्य के कारण शृंगारादिक रस 'स्वाकार' (जिसका 'स्व' अर्थात् अपना आकार ही विषय है, अन्य कुछ जिसका विषय नहीं है) की भाँति अभिन्न होते हुए भी 'गोचर' बनता है अर्थात् विषय बनता है। (जैसे ज्ञान-स्वरूप विषय भी ज्ञेय बनता है, वैसे ही जिस रस का स्वरूप ही आनन्दात्मक आस्वाद है, वह रस भी आस्वाद्य बनता है)। चर्व्यमाणता ही उस (रस) का प्राण है, विभावादि जब तक जीवित रहते हैं, तभी तक वह (रस) रहता है। पानकरस-न्याय से चर्व्यमाण होते हुए वह (रस) मानो सामने परिस्फुरित होता हुआ मानो हृदय में प्रविष्ट होता हुआ, मानो सर्वांग-व्यापक होकर आलिंगन देता हुआ, अन्य सब कुछ का तिरोधान करता हुआ, ब्रह्मा-स्वाद जैसा अनुभव कराता हुआ अलौकिक चमत्कारकारी (होता है)। वह 'कार्य' नहीं है, क्योंकि (यदि वैसा होता तो) विभावादि का विनाश होने पर भी वह बना रहता (किन्तु ऐसा नहीं होता, वह तो विभावादि के जीवन-काल तक ही रहता है)। वह 'ज्ञाप्य' भी नहीं है क्योंकि वैसा होने के लिए उसे (पहले से) सिद्ध होना चाहिए (किन्तु वैसा है नहीं)। अपितु वह विभावादि के द्वारा व्यंजित है और चर्वणीय है। यदि कोई पूछे कि 'कारक' 'ज्ञापक' से भिन्न कहाँ कुछ देखा गया है, तो (उत्तर यह है कि) कहीं ऐसा देखा नहीं गया, यह बात तो (उसकी) अलौकिक सिद्धि के कारण भूषण है, न कि दूषण। चर्वणा की निष्पत्ति से उसकी निष्पत्ति का 'उपचार' होता है, इसलिए उसे 'कार्य' भी कह सकते हैं। लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण (अथवा) उन प्रमाणों से निरपेक्ष (तटस्थ) जो अवबोध है, उससे युक्त मित (युञ्जान, अपरिपक्व) योगियों का ज्ञान (अथवा) वेद्यान्तर-संस्पर्शरहित स्व-स्वरूप-मात्रविषयक परिमितेतर (पक्व, युक्त) योगियों का संवेदन या ज्ञान, इन तीनों से विलक्षण लोकोत्तर स्वसंवेदन-गोचर रस को प्रत्येय या ज्ञेय भी कह सकते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उस (रस) का ग्राहक (ज्ञान) न तो निर्विकल्पक है, क्योंकि उसमें विभावादि परामर्श प्रधान है और न ही सविकल्पक है, क्योंकि चर्व्यमाण अलौकिक आनन्दमय (रस) तो स्व-संवेदन-सिद्ध है। दोनों (निर्विकल्पक और सविकल्पक) की अभाव-स्वरूपता और उभयात्मकता यह तो पूर्ववत् (रस की) लोकोत्तरता को ही सिद्ध करती है, विरोध को नहीं, ऐसा श्रीमदाचार्य अभिनवगुप्तपाद का मत है।

(घ) शान्त की प्रकृति-रूपता

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ।।
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एवोपलीयते ।।

(ना० शा० ६, पृ० ३३४-३५)

रत्यादि भाव विकार हैं, शान्त तो प्रकृति है। विकार प्रकृति से उत्पन्न होता है और पुनः वहीं लीन हो जाता है। अपने-अपने निमित्त को लेकर, शान्त से भाव प्रवर्तित होता है और पुनः निमित्त के छूट जाने पर शान्त में ही लीन हो जाता है।

(ङ) आनन्द में ही भूतों की सृष्टि, स्थिति, लय

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्तीति ।।

(तैत्तिरीयोपनिषत् ३ ६)

आनन्द ब्रह्म है, ऐसा जानो। आनन्द से ही ये भूत उत्पन्न होते हैं। आनन्द से, उत्पन्न होने पर, जीते हैं। आनन्द में ही वापस प्रविष्ट होते हैं।

(च) 'वहु' के संयोग से अपूर्व रस की उत्पत्ति

तत्रालौकिकोऽयमर्थो न दृष्टान्तमन्तरेण हृदयंगमो भवेदित्याशयेनाह को दृष्टान्त इति। बहूनां संयोगादपूर्वो रस उत्पद्यमानः क्व दृष्ट इत्यर्थः।

(अभिनवभारती, ना० शा० ६, पृ० २८७)

यह (रस की) बात अलौकिक है, दृष्टान्त के विना हृदयंगम नहीं होगी, इस आशंका से कहा, कौन-सा दृष्टान्त है? वहुतों के संयोग से अपूर्व रस उत्पन्न होता हुआ कहाँ देखा गया है? ऐसा (इस प्रश्न का) अर्थ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(छ) प्रसादजी के 'कामना' नाटक के प्रथम अंक का अंश

लीला : री बहन, क्या तुम अभी घर नहीं चलोगी ?

कामना : तू फिर आई ?

लीला : क्यों न आती ?

कामना : अवश्य आती, पर मुझे यह प्रश्न क्यों करती ?

लीला : री बहन, तू कैसी होती जा रही है ? तेरा चरखा मन मारे चुपचाप बैठा है। तेरी कलसी खाली पड़ी है। तेरा बुना हुआ कपड़ा अधूरा पड़ा हुआ है। तेरी···

कामना : मेरा कुछ भी नहीं है, तू जा, मैं चुप रहा चाहती हूँ। हृदय मेरा रिक्त है, और मैं अधूरी हूँ।

लीला : री बहन, मैं कुछ नहीं समझी ?

कामना : मत समझ, कुछ मत समझ, तू जा, चली जा, बस अभी तू जा।

(लीला का प्रस्थान)

(कामना की स्वगतोक्ति)

मैं क्या चाहती हूँ ? जो कुछ भी प्राप्त है, उससे भी महान्। कुछ आशा है, अभिलाषा है, आकांक्षा है, पर वह क्या है ? मैं किसी को इसका विवरण देना नहीं चाहती।

(सोने का मुकुट पहने विलास को सागर-तट पर उतरते देखकर) ऐं ! यह कौन ? यह कौन ? मैं क्यों झुकी जा रही हूँ ? इसके सिर पर क्या चमकता है, जो इसे सुन्दर प्रभाशाली बनाए है।

स्वरलिपि

ली :	नि स रि	सरि स नि	ध नि – स	ग – म ग – ग
	री . ब	ह . . .	. . न	री ब ह न
	ग म पध	ग – म ग	प नि ध नि	प ध प – मग
	क्या . तु .	. म अ भी	घ र न च	ली . गो ऽ . .
	ग म प ध	गमग –		
	घ र न च	लो . गी ऽ		
का :	ग मम प नि			
	तू फिर आ ई			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ली: निसं नि – सं ध नि धप – म ग
क्यों. न ऽ . आ . ती . .

का: गस ग – म प – ध ग म ग ग स म ग प
अ व श्य आ ती . प र मु झे . ये

नि – ध प – ग म ग – रिस
प्र ऽ श्न क्यों ऽ क र ती . .

ली: ऩि स रि सरिसऩि . .ध़ ऩि – स प ग म ग – ग
री . व ह . . . . . ऽ न री . व ह ऽ न

ग म प सं नि सं प ध मं प पध ग – म प ध ग म ग
तू . कैं सी . हो . ती . जा . र ही . . . है

ग म पप नि – नि सं ध नि संरिंनिसं रिं सं नि ध नि ध
ते रा चर खा ऽ म न मा रे . . . चु प चा . . प

प ध मं प ग म ग . सं रि नि सं – प ध प –
बैं . . . ठा . है . ते . री . ऽ क ल सी ऽ

प पध ग म प ध ग म ग – स नि स ग – म ग –
खा ली . प ड़ी . . है ऽ ते रा बु ना ऽ हु आ ऽ

ग म प नि ध नि नि ध नि धप – प पध ग म प ध
क प ड़ा . . अ धू . . रा ऽ प ड़ा . . हु आ .

ग म ग – सं नि
. . है ऽ ते री

का: गं रिं गं रिं सं नि ध नि ध प प प
मे . रा . . मे . रा . . कु छ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प ध ग म प ध ग म ग – म – ग – सं – नि – ध
भी . . न हीं . . . है ऽ तू ऽ जा ऽ तू ऽ जा ऽ .

प मग सग ग गगम प – ध ग म ग – रि स
मैं . चु प रहा. चा ह ती . हूँ ऽ . .

म ग म प – नि नि सं निं सं –
हृ द य मे रा रि . क्त है ऽ

सं रिं नि ध नि रिं नि सं नि – ध प
औ र मैं अ धू री . हूँ ऽ . .

प ध ग म प ध ग म ग – रि स
मैं . . अ धू . री . हूँ ऽ . .

ली: नि स रि स स नि ध प ग म ग ग
री . ब ह न ए री . . ब ह न

ग स गग म प ध ग म ग –
मैं . कुछ न हीं . स म झी ऽ

का: नि नि सं नि नि नि ध प ग म ग ग नि सं नि धप
म त स म झ कु छ म त स म झ तू . जा .

नि ध प म ग ग ग म प ध ग म ग स ग रि ग – रि स
च ली . जा . ब स अ भी . तू . जा . तू . जा ऽ . .

कामना की स्वगतोक्ति

म प भ म – ग रि म ग रि सरि स रि म प ध नि ध धनि –धपध प
मैं . . . . . क्या . . . . . चा . . . . . ह ती . . हूँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध म ध प प नि सं प ध म – प ग–रि स रि स स रि ग – रि रि म
जो कु छ भी . . प्रा प्त है ऽ. उ स से भी ऽ . . .

म प रि म प प प ध म प नि नि नि नि सं नि सं
. . म हा न् कु छ आ शा है अ भि ला षा . है

नि सं रिं रिं रिं रिं गं रिं गं सं रिं मं गं
आ . कां क्षा है प र व ह क्या . है

रिं गं रिं सं रिं सं – ध ध प ध म प प
मैं . कि सी . को ऽ इ स का वि व र ण

प ध प ग रि स रि रि ग रि स रि म म प प म प
चा . . ती . . रे . . . . ना . न हीं

नि प सं नि नि नि रिं सं सं म प म – म
ऐं य ह कौ न य ह कौ न य ह कौ न

ग म प नि सं नि प ग म ग, ग स
मैं . झु की . जा र ही . हूँ, क्यों .

ग म प नि सं नि– प ग म ग –
मैं . झु की . जा र ही . हूँ ऽ

ग ग म प प नि नि सं– नि रिं रिं सं नि प
इ स के सि र प र क्या च म क ता है

ग म प नि सं सं गं गं मं– गं सं
जो इ से सुं द र प्र भा शा ली

रिं नि सं नि प · सं रिं रिं नि सं नि प म
ब ना . ये है ब ना . ये है

म प नि ग म ग स
ब ना . ये . है .

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. उत्तररामचरितम्, भवभूति। संपादक शेषराज शर्मा, अष्टम संस्करण, वि० सं० २०३३

२. उपनिषत्संग्रह (१०८ उपनिषद्) मोतीलाल बनारसीदास, १९८४ (प्रथम संस्करण का द्वितीय पुनर्मुद्रण)।

३. किताब-ए-नौरस, इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय, सम्पादक नजीर अहमद। भारतीय कला केन्द्र, नयी दिल्ली, १९५६

४. काव्यप्रकाश, मम्मट-कृत, वामनाचार्य रामभट्ट झलकीकर-कृत टीका सहित। भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, १९८३, अष्टम संस्करण।

५. काव्यालंकार, भामह-विरचित, संपादक-अनुवादक देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६२

६. कुमार-संभव, कालिदासकृत, कालिदास ग्रन्थावली, संपादक डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९८६

७. चित्रसूत्र (विष्णुधर्मोत्तर) संपादक, अनुवादक सी० शिवराममूर्ति। कनक पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली, १९७८

८. तन्त्रालोक, अभिनवगुप्तपाद-विरचित, खण्ड ९ (आह्निक १-६), श्री जयरथ-रचित विवेक-टीका-सहित, संपादक कृष्णानन्द सागर, श्री शिवोऽहम् सागर, ग्रन्थमाला पुष्प-३, १९८४

९. ध्वन्यालोक, आनंदवर्द्धनाचार्य-कृत। अभिनवगुप्त की लोचन टीका-सहित। अनुवादक-आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौखम्वा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५, विद्याभवन संस्कृत ग्रंथमाला-९७

१०. नाट्यशास्त्र, भरतमुनि-कृत, अभिनवगुप्ताचार्य की अभिनवभारती टीका सहित, प्रथम खण्ड (अध्याय १-७), प्रथम संपादक एम० रामकृष्ण कवि,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संशोधित संपादन के० एस० रामस्वामी शास्त्री द्वारा, गायकवाड़; ओरिएंटल सिरीज, १९६५ म० स० बड़ौदा, विश्वविद्यालय बड़ौदा; द्वितीय खण्ड, (अध्याय ८-१८) सम्पादक एम० रामकृष्ण कवि १९३४, तृतीय खण्ड (अ० १९-२७), सम्पादक एम० रामकृष्ण कवि, १९५४; चतुर्थ खण्ड (अ० २८-३७), एम० रामकृष्ण कवि एवं जे० एस० पदे, १९६४

११. बृहद्देशी, मतंगकृत। सम्पादक के० साम्बशिवशास्त्री। अनन्तशयन-संस्कृतग्रन्थावलि, ग्रन्थांक ९४, १९२८

१२. भावप्रकाशन, शारदातनयकृत, संपादक के० एस० रामस्वामी शास्त्री, गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज सं० ४५, १९८६ (प्रथम संस्करण का पुनर्मुद्रण) म० स० बड़ौदा विश्वविद्यालय, बड़ौदा।

१३. यजुर्वेद (शुक्लयजुर्वेद संहिता, माध्यन्दिन संहिता) संपादक स्वामी गोविन्दानन्द और प्रेमाचार्य शास्त्री, सद्गुरु गंगेश्वरानन्द इंटरनेशनल वेद मिशन, बंबई, संवत् २०३८

१४. वास्तु-सूत्र-उपनिषद्, अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणी सहित, सम्पादक एलिस बोनर, सदाशिवरथ शर्मा और बेत्तीना बाउमेर, मोतीलाल बनारसीदास, १९८२

१५. श्रीमद्भागवत, वेदव्यास-कृत, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् १९९८

१६. समरांगणसूत्रधार, महाराज भोजकृत, प्रथम सम्पादक टी० गणपति शास्त्री, संशोधित संपादन वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा, गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज, संख्या-२५, सन् १९६६, म० स० बड़ौदा विश्वविद्यालय, बड़ौदा।

१७. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ कविराजकृत, विमला टीका सहित, संपादक, शालिग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, नवम संस्करण १९७७, पुनर्मुद्रण १९८२

□□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जन्म : वैशाख शुक्ल नवमी, सं० १९८४ वि० (१० मई, १९२७ ई०) नकोदर, जिला जालंधर (पंजाब)।

शिक्षा : प्रारम्भिक शिक्षा घर पर, बी० ए० दिल्ली विश्वविद्यालय से; एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पीएच० डी० (संस्कृत); शास्त्राचार्य (साहित्य), 'संगीतालंकार' (गायन)—सभी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से।

अध्यापन : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संगीतसंकाय में संगीतशास्त्र।

प्रकाशन : पाठ संशोधनात्मक सम्पादन—रसविलासः, '५२; संगीतराजः, '६२; सहसरस, '७२; एकलिंगमाहात्म्यम्, '७६; संपादन : नादरूप, '६०-'६१; चित्रकाव्य-कौतुकम्, '६५; ध्रुपद वार्षिकी, '८६-'८७ तथा अनेक सन्तवाङ्मय (संस्कृत एवं हिन्दी); अनुवाद (बंगला से) : जपसूत्रम, '६६; अमरवाणी, '६८; साधु दर्शन व सत्प्रसंग (भाग २), '६९।

संस्कृत नाट्य-प्रयोग : भरत नाट्यशास्त्र के आधार पर पूर्वरंग का पुनर्निर्माण; तदंगभूत ध्रुवा, निर्गीत, गीतक आदि का पुनरुद्धार; अनेकों संस्कृत-नाट्य-प्रस्तुतियों का निर्देशन।

विदेश में कार्य : मॉस्को कंजर्वेटायर के शताब्दी समारोह में, '६६। सं० रा० अमेरिका में १. अध्यापन—रॉचेस्टर (न्यूयार्क), शार्लेट (नॉर्थ केरोलीना) में '७०, '७८; २. निबन्ध वाचन बर्कले में '७७। मॉरीशस में संगीत-परीक्षण, '८१। मॉस्को की विचारगोष्ठी में भारतीय-दल का नेतृत्व '८७।

संप्रति वाइस चांसलर, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, म० प्र० (४९१८८१)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi